उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—२ जुलाई, १९८३ अंक—७

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५५ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

उस 'एक' ईश्वर को जानो; उसे जानने से तुम सभी कुछ जान जाओगे। 'एक' के बाद शून्य लगाते हुए सैकड़ों और हजारों की संख्या प्राप्त होती है। परन्तु 'एक' को मिटा डालने पर शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता। 'एक' ही के कारण शून्यों का मूल्य है। पहले 'एक' बाद में 'बहु'। पहले ईश्वर, फिर जीव-जगत।

(२)

मुसाफिर को नये शहर में पहुँचकर पहले रात बिताने के लिए किसी सुरक्षित डेरे का बन्दोबस्त कर लेना चाहिए। डेरे में अपना सामान रखकर वह निश्चिन्त होकर शहर देखते हुए घूम सकता है। परन्तु यदि रहने का बन्दोबस्त न हो तो रात के समय अँधेरे में विश्राम के लिए जगह खोजने में उसे बहुत तकलीफ उठानी पड़ती है। उसी प्रकार इस संसाररूपी विदेश में आकर मनुष्य को पहले ईश्वररूपी चिर विश्रामधाम प्राप्त कर लेना चाहिए, फिर वह निर्भय होकर अपने नित्य कर्त्तव्यों को करते हुए संसार में भ्रमण कर सकता है। किन्तु यदि ऐसा न हो तो जब मृत्यु की घोर अंधकार-पूर्ण रात्रि आएगी तब उसे अत्यन्त क्लेश और दुःख भोगना पड़ेगा।

(३)

जब तराजू का एक पल्ला दूसरे पल्ले से भारी होकर झुक जाता है तो उसका निचला काँटा ऊपरवाले काँटे से अलग हट जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्य का मन कामिनी-कांचन के भार से संसार की ओर झुक जाता है तो वह ईश्वर में एकाग्र नहीं हो पाता, वह उनसे दूर हट जाता है।

(४)

जब आँधी चलती है तब कौन-सा बड़ है और कौन-सा पीपल यह पहचान में नहीं आता। इसी तरह जब ज्ञान चैतन्य की आँधी आ जाती है तब जाति भेद नहीं रह जाता।

श्रीरामकृष्णदासा वयम्

स्वामी विवेकानन्द

क्षीणा स्म दीनाः सकरूणा जल्पन्ति मूढ़ा जनाः
नास्तिक्यन्त्विदन्तु अहह देहात्मवादातुराः ।
प्राप्ताः स्म वीरा गतभया अभयं प्रतिष्ठां यदा ।
आस्तिक्यन्त्विदन्तु चिनुमः रामकृष्णादासा वयम् ॥१॥

पीत्वा पीत्वा परमममृतं वीतसंसाररागाः
हित्वा हित्वा सकलकलह प्रापिणीं स्वार्थसिद्धिम् ।
ध्यात्वा ध्यात्वा गुरुवरपदं सर्वकल्याणरूपं
नत्वा नत्वा सकलभुवनं पातुमामन्त्रयामः ॥२॥

प्राप्तं यद्वै त्वानादिनिधनं वेदोदधिं मथित्वा ।
दत्तं यस्य प्रकरणे हरिहरब्रह्मादिदेवैर्बलम् ।
पूर्णं यत्तु प्राणसारं भौमनारायणानाम्
रामकृष्णस्तनुं धत्ते तत्पूर्णपात्रमिदं भोः ॥३॥

जो लोग देह को आत्मा मानते हैं, वे ही करुण कंठ से कहते हैं—हम क्षीण हैं, हम दीन हैं। यह नास्तिक्य है। हमलोग जबकि अभयपद पर स्थित हैं तो हम भयरहित वीर क्यों न हों, यही आस्तिक्य है। हम रामकृष्ण के दास हैं ॥१॥

संसार में आसक्ति से रहित होकर, सब कलहों की जड़ आसक्ति का त्याग करके, परम अमृत का पान करते हुए, सर्वकल्याणस्वरूप श्रीगुरु के चरणों का ध्यान कर, समस्त संसार को नतमस्तक होकर उस अमृत का पान करने के लिए बुला रहे हैं ॥२॥

अनादि अनन्त वेदस्वरूप समुद्र का मन्थन करके जो कुछ मिला है, ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि देवताओं ने जिसमें अपनी शक्ति का नियोग किया है, जिसे पार्थिव नारायण कहना चाहिए अर्थात् जिसमें भगवदवतारों के प्राणों का सारपदार्थ है, श्रीरामकृष्ण अमृत के पूर्ण पात्रस्वरूप उसी देह को लेकर आये थे ॥३॥

सम्पादकीय सम्बोधन

जीव की सेवा करो शिव-भाव से

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

एक बार स्वामी विवेकानन्द (तब श्री नरेन्द्रनाथ दत्त) ने श्री रामकृष्ण से निवेदन किया कि हमलोग चूँकि सारा समय ध्यान-साधना में ही नहीं लगा सकते इसलिए ध्यान-साधना और शास्त्र-अध्ययन के उपरान्त जो समय बचता है उसे हमलोग जीवों पर दया करने में क्यों न लगावें ? जो दीन-हीन दुःखी-गरीब लोग हैं उन पर दया कर, उनके कल्याण के लिए हमलोगों को कुछ प्रयत्न करना ही चाहिए। लेकिन श्रीरामकृष्ण ने ईषत् क्रोध प्रकट करते हुए कहा—"दया क्या रे ? तू कौन है किसी पर दया करने वाला ?" स्वामीजी को श्री रामकृष्ण की यह बात नहीं जँची। उन्होंने बार-बार जीव-दया करने पर जोर डाला और बार-बार श्रीरामकृष्ण ने दया-भाव की भर्त्सना की। अंत में श्री नरेन्द्रनाथ को समझाते हुए उन्होंने कहा—देखो नरेन्द्र, तुम जीवों पर दया नहीं कर उनकी सेवा करो—ईश्वर बुद्धि से उनकी सेवा करो। तुम दया करने वाले कौन हो ? तुम सेवा करोगे। सभी प्राणियों में वे (ईश्वर) ही निवास करते हैं, यही समझकर, शिव ज्ञान से, जीवों को शिव मानकर तुम उनकी सेवा करोगे।

यह बात श्रीरामकृष्ण के मुँह से जब निकली तब एक चमत्कार हो गया। वह बड़ा शुभ लग्न था—एक माहेन्द्र क्षण, एक शिवात्मक वेला, एक महत्तम मुहूर्त। स्वामीजी का तो रूपान्तरण हो गया। वे बोल उठे,—'आज ऐसी एक अपूर्व बात मैंने सुनी है कि यदि भगवान् ने समय दिया तो इस बात को सारे संसार में डंके की चोट पर सुनाऊँगा और इस मंत्र को कार्य रूप में परिणत करूँगा।"

जीवों के प्रति दया नहीं, जीवों को शिव समझकर, शिव मानकर उसी शिव-बुद्धि से उनकी सेवा करना—क्या विलक्षणता थी इस वाक्य में ? क्या अन्तर था 'दया' और 'सेवा' में ? कौन सा गूढ़ गंभीर अर्थ छिपा था श्रीरामकृष्ण के इस सूत्र-वाक्य में ? ऐसा क्या था इस ऋचा में कि स्वामीजी इसे सुनकर ही विस्मय-विमुग्ध हो गये थे, चकित-चमत्कृत हो गये थे और एक अन्तर-आह्लाद से भर कर उन्होंने कहा—समय आने पर इसका मर्म सारे संसार को बताऊँगा।

श्रीरामकृष्ण ने इस सूत्र के माध्यम से नरेन्द्रनाथ को समझाया था कि दया करने से दया के पात्र से हम अपने को श्रेष्ठ, शक्तिमान, समर्थ और सबल समझने लगते हैं तथा जिस पर हम दया करते हैं उसे अपने से हीन और असक्त। इससे हमारे मन में अहंकार का भाव जगता है, अपने में उच्चता का बोध होता है, भेद-बुद्धि उत्पन्न होती है। और दया करके हम अपने अहंकार को तुष्ट कर एक प्रकार का भोग ही भोगते हैं। इस प्रकार दया का भाव हमें गिराता है जबकि सेवा का भाव, निःस्वार्थ सेवा का भाव, नहीं-नहीं, जीव को शिव मानकर उनकी सेवा करने का भाव हमें पूजा करने की स्थिति में ला खड़ा करता है। सही अर्थ में हम सेवा नहीं जीव शिव की पूजा करते हैं। पूजा में अहंकार कैसा ? इस भाव में आने पर जिसकी सेवा हम करते हैं वह हमारा कृतज्ञ नहीं होता बल्कि हम उसके कृतज्ञ होते हैं, क्योंकि उसने हमें वह अवसर प्रदान किया कि उसके चरणों पर हम सेवा के कुछ सुमन अर्पित कर सकें। स्वभावतः सेवा, शिवज्ञान से जीव की सेवा का भाव हमारे अहंकार को झाड़ता है, हमारे चित्त को शुद्ध एवं पवित्र करता है। निरहंकृत कर्म, अहंकार भाव से शून्य

होकर किया गया कर्म हमारे चित्त को वृत्तिहीन करता है, उसे निर्मलता प्रदान करता है, स्वच्छता और शुद्धता प्रदान करता है। और निरहंकृत चित्त वाला पुरुष ही तो ब्रह्म है। अतः सेवा हमें ब्रह्मत्व में रूपान्तरित करने का सर्वोत्तम साधन है। स्वामीजी ने श्री रामकृष्ण के सेवा-मंत्र में छिपे सारे रहस्यों को जैसे एकबारगी अपनी मर्म भेदिनी दृष्टि से देख लिया था। इसी से वे उस दिन चकित-चमत्कृत थे, भाव-विह्वल थे। उन्होंने श्रीरामकृष्ण के प्रति कहा था—'इस पगले ब्राह्मण के चरणों पर मेरा मस्तक बिक गया। स्वामीजी के सेवाधर्म शिव—ज्ञान से जीव-सेवा करने के भाव—का सूत्रपात श्रीरामकृष्ण के इसी कथन से उस दिन हुआ था।

श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ को उस दिन जो कहा था, कुछ वैसा ही कभी श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था। परब्रह्म को प्राप्त करने के उपायों में एक महत्तम उपाय यह है कि समस्त प्राणियों के हित-साधन में अपने को अर्पित कर दिया जाय।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥
(गीता।५।२५)

अर्थात् वे पुरुष शान्त परब्रह्म को उपलब्ध होते हैं जो पापरहित एवं संशयहीन होकर सम्पूर्ण जीवों के हित साधन में अपनी रति रखते हैं। इतना ही नहीं, श्रीकृष्ण ने जोर देकर अर्जुन को समझाया कि समस्त जीवों का हित करनेवाला (सर्वभूतहिते रताः) मुझे ही उपलब्ध करते हैं। (गीता १२-३-४)

भक्त प्रह्लाद ने भगवान से वर माँगते हुए कहा था—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनाम् आर्तिनाशनम्॥

हे प्रभु, मुझे राज्य की कामना नहीं है, न मैं स्वर्ग की ही आकांक्षा रखता हूँ और न पुनर्जन्म से ही मैं घबड़ाता हूँ। मेरी तो एक ही आकांक्षा है, एक ही कामना है कि दुःख से तप्त समस्त प्राणियों की पीड़ा का नाश हो।

भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था—

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय।

ईसा मसीह ने अपने शिष्यों को आदेश दिया था—'रोगियों को चंगा करो, कोढ़ियों के कुष्ठ को साफ करो, ...ईश्वर ने तुम्हें निःशुल्क शक्ति दी है, तुम भी मुक्त भाव से सेवा करो।' उन्होंने एक धनी युवक से कहा था....'go thy way, sell whatever thou hast and give to the poor and thou shalt have treasure in heaven and come, take up the cross and follow me' (the Bible, Mark × 71) अर्थात् 'वापस जाओ, जो कुछ तुम्हारे पास हैं उन्हें बेच दो और निर्धनों में बाँट दो, तुम्हें स्वर्ग का रत्नकोष मिलेगा और तब आओ, धर्म ग्रहण करो और मेरा अनुसरण करो।"

एक बार हजरत मोहम्मद के एक शिष्य ने उनके पास आकर उनसे अनुनय किया—'हजरत, मेरी माँ मर गयी है। आप बताएँ कि सबसे मूल्यवान वह कौन सा दान है जो मैं अपनी माँ की आत्मा की शान्ति और सुख के लिए लोगों को दे सकूँ।' हजरत थोड़ी देर सोचते रहे। फिर अरब देश की भीषण गर्मी का ख्याल कर उन्होंने अपने उस शिष्य से कहा—'पानी, अपनी माँ के नाम एक कुआँ खुदवाओ और प्यासों को पानी दो।'

गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

परहित सरिस धर्म नहि भाई।
पर पीरा सम नहि अधमाई॥

मैं आपसे यह कहना चाहता हूँ कि सेवा के महत्व को सभी धर्मगुरुओं और धर्मों ने निःसंकोच भाव से स्वीकारा है। ईश्वर के स्वरूप और उन्हें प्राप्त करने के उपायों के सम्बन्ध में, उपासना की पद्धतियों के विषय में, जीव और ईश्वर के सम्बन्धों के विषय में विभिन्न धर्मों की अलग-अलग धारणाएँ हैं, भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं, लेकिन जिस एक बात में सभी धर्म सहमत हैं वह है सेवा के माध्यम से ईश्वर की ओर की यात्रा।

लेकिन अन्य धर्मों या धर्मगुरुओं के सेवा के आदर्श से श्रीरामकृष्ण के सेवा के—आदर्श में भिन्नता है,

एक महत्वपूर्ण भिन्नता। सेवा करने पर बल तो श्रीरामकृष्ण के पूर्व के प्रायः सभी धर्माचार्यों ने दिया किन्तु जीव की सेवा शिव भाव से करने का निर्देश इनके पूर्व के किसी धर्मगुरु ने नहीं दिया था। सेवा की दृष्टि में भी अन्तर है। हम किसी प्यासे को पानी देकर, किसी रोगी को दवा और पथ्यादि देकर, किसी छात्र को निःशुल्क शिक्षा देकर उसकी सेवा कर सकते हैं। और हर सेवा सेवा ही है—एक महत्वपूर्ण साधना। लेकिन ऐसी सेवा से मन के किसी एकान्त कोने में छिपे अहंकार के जग जाने की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। ऐसी सेवा में भी एक प्रतिदान की भावना उत्पन्न हो सकती है। नाम और यश की कामना जग सकती है। 'मैंने बहुत लोगों की सेवाएं की हैं'—यह भाव भी जग जा सकता है। वसे, नाम और यश की आकांक्षा से की गयी सेवा का भी कोई कम महत्व नहीं है। समाज को स्वस्थ रखने के लिए किसी न किसी रूप में सेवा करने का भाव हममें रहना ही चाहिए। लेकिन श्री रामकृष्ण थे एक आदर्श गुरु। उन्होंने अपने शिष्यों को जिस सेवा के करने का उपदेश दिया वह सेवाभाव से नहीं, पूजा-भाव से। उन्होंने सेवा को पूजा का प्रतिरूप बनाकर प्रस्तुत किया। इससे सेवा भी हो सकती है और अहंकार से भी मुक्त रहा जा सकता है। हम जिसकी सेवा करने जा रहे हैं वह कोई जीव नहीं है—साधारण जीव नहीं है. बल्कि वह तो साक्षात् शिव ही हैं। परमपिता परमात्मा ही अभी हमारे समक्ष एक प्यासे के रूप में, एक कुष्ठ रोगी के रूप में, एक निर्धन भिखारी के रूप में, एक छात्र के रूप में, एक आर्त प्राणी के रूप में, एक वेश्या और एक कुलटा के रूप में प्रस्तुत हो गये हैं, उपस्थित हो गये हैं। हम प्यासे को नहीं, शिव को पानी दे रहे हैं; हम भिखारी को नहीं, शिव को अन्न दे रहे हैं; हम कोढ़ी की नहीं, शिव की शुश्रूषा कर रहे हैं, हम छात्र को नहीं, शिव को शिक्षा दे रहे हैं, हम वेश्या और कुलटा को नहीं शिव को गंदे वातावरण से निकाल रहे हैं। यह भाव है जीव को देखने का। यहाँ सेवा सेवा नहीं रह कर पूजा में ढल जाती है। हर जीव शिव का प्रतिरूप हो जाता है।

हमारी पूजा से शिव कृतज्ञ हो रहे हैं—यह भाव भी हमारे मन में नहीं जगता। शिव की पूजा कर हम कृतज्ञ होते हैं। हम निहाल होते हैं यह देखकर कि शिव ने हमारी पूजा स्वीकार की। इसी प्रकार जब शिव-भाव से हम जीव की सेवा करते हैं तब हम स्वयं उपकृत होते हैं यह देखकर कि उस शिव ने हमें सेवा के द्वारा अपनी पूजा करने का अवसर प्रदान किया। जिसकी हम सेवा करते हैं वह हमसे उपकृत हुआ, यह भाव ही हमारे मन में नहीं पनपता।

फिर एक शराबी, एक वेश्या, एक रोगी, एक पिपासित-क्षुधार्त प्राणी, एक निर्धन छात्र—इन सबको देख कर, इनकी हीनदशा देखकर, हमारे मन में इनके प्रति घृणा का भाव नहीं जगता। ये सब शिव हैं। शिव ने कैसे-कैसे वेश बनाये हैं। कैसी-कैसी दशा कर रखी है अपनी! और अगर ऐसी दशाएँ उन्होने अपनी नहीं कर ली होती, अगर ऐसे-ऐसे रूप उन्होंने धारण नहीं कर लिये होते तो हमें उस विराट् शिव की सेवा करने का कस्तूरी अवसर ही कैसे मिलता? तब फिर उस शिव की निष्काम-निरहंकृत पूजा करने की वासन्ती वेला ही हमें कहाँ मिलती? धन्य हैं शिव, जिन्होंने अपनी अनन्त-अशेष करुणा से हमारे चित्त की शुद्धि के लिए, हमारे मन के मार्जन के लिए स्वयं दुःख उठाकर उन्होंने ऐसे-ऐसे दुःखियों का रूप धारण कर लिया। हम कृतज्ञ हैं उस परम शिव के जिनकी अहैतुकी कृपा से सरलता पूर्वक हम अपने चित्त की डाल पर सेवा के फूल उगा सकते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु के मुख से, इसी से, जब दया की जगह जीव की शिव-भाव से सेवा करने का संदेश सुना तो उनका हृदय खिल उठा। समय आने पर उन्होंने संसार में डंके की चोट पर घोषणा की—'पवित्र होना और दूसरों का हित करना—सभी उपासनाओं का यही सार है। जो दरिद्रों और रोगियों में शिव को

देखता है, वही शिव की सच्ची पूजा करता है, और यदि वह केवल प्रतिमा में शिव को देखता है, तब उसकी पूजा मात्र प्रारंभिक हैं।"

शिकागो से ३ मार्च, १८९४ को अपने एक शिष्य को लिखे पत्र में स्वामीजी ने बड़ी गंभीरता से लिखा था—

'हमें विश्वास है कि सभी प्राणी ब्रह्म हैं। प्रत्येक आत्मा मानो बादल से ढँके हुए सूर्य के समान है और एक मनुष्य से दूसरे का अन्तर केवल यही है कि कहीं सूर्य के ऊपर बादलों का घना आवरण है और कहीं कुछ पतला। हमें विश्वास है कि यही सब धर्मों की नींव है, चाहे कोई उसे जाने या न जाने। और मनुष्य की भौतिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति के सारे इतिहास का मूल तत्व यही है कि एक ही आत्मा भिन्न उपाधि या आवरण के द्वारा अपने को प्रकाशित करती है।

हमें विश्वास है कि यही वेद का चरम रहस्य है।

हमें विश्वास है कि हरएक मनुष्य को चाहिए कि वह दूसरे मनुष्य को इसी तरह, अर्थात् ईश्वर समझकर, सोचे और उससे उसी तरह अर्थात् ईश्वर-दृष्टि से वर्ताव करे; उसकी किसी तरह भी घृणा या निन्दा करना अथवा उसे हानि पहुँचाने की चेष्टा करना उसे बिल्कुल उचित नहीं। यह केवल संन्यासी का ही नहीं, वरन् सभी नर-नारियों का कर्तव्य है।"[1]

वस्तुतः जीव को शिव मानकर जब तक हम आचरण करना नहीं सीखेंगे तब तक हम न तो अपना स्वरूप ही जान सकेंगे और न लोकमंगल का ही कार्य कर सकेंगे।

सेवा स्वयं को जानने का एक मनोरम प्रयत्न है।

सेवा आत्मज्ञान का एक मंगल प्रभात है

सेवा विश्व-जीवन से एकात्म होने का सुरम्य संगीत है

सेवा विषमता और विभेद की मरुभूमि में समता की शीतल सरिता है।

सेवा एक मंत्र है, आत्म-प्रसार का।

सेवा एक तंत्र है, आत्म-साक्षात्कार का।

सेवा एक यंत्र है, उपलब्ध समय को सार्थक करने का।

जहाँ सेवा है, वहाँ द्वैत नहीं है—आत्मा परमात्मा का, मैं और तू का।

जहाँ सेवा है, वहाँ कामना या राग नहीं है।

जहाँ निष्कामता है वहीं जीवन की धन्यता है, शान्ति है, आनन्द है।

मनुष्य कुछ किये बिना रह नहीं सकता। हर क्षण उसे कोई न कोई कर्म करते ही रहना होता है। और अगर कुछ करना है ही तो हमें सेवा ही करनी चाहिए। सेवा का राग न रोग है न भोग। अगर हम सेवा नहीं करेंगे तो भोग ही करना होगा। कामना से किया गया कर्म ही भोग है। और ऐसा कोई भोग नहीं जिसकी परिणति रोग में नहीं होती हो। भोग हमें बाँधता है—सुख-दुःख के बन्धन में, माया-मोह के बन्धन में। भोग और शान्ति में वैर है। हमें यदि शान्ति चाहिए, आनन्द चाहिए तो भोग से विरत करना होगा अपने को और सेवा में समर्पित करना होगा स्वयं को।

सेवा हमें स्वाधीन करती है, बाँधती नहीं। यह मेरा शरीर है और मैं एक शरीर हूँ यह बोध जब तक रहेगा, सेवा नहीं हो सकती। सेवा के लिए यह मानकर चलना होता है कि मेरा कुछ नहीं है और न मैं कुछ हूँ। सारा जगत प्रभु का प्रकाश है, प्रभु का है। अतः मैं जगत अर्थात् प्रभु का सेवक ही हो सकता हूँ और कुछ नहीं। अपने अमर जीवन से लिए, स्वाधीन जीवन के लिए, चिन्मय जीवन के लिए, अपने लिए कुछ नहीं किया जा सकता। जो कुछ किया जायगा वह प्रभु के लिए। अपने सुख के लिए किया गया कर्म बन्धन है। ईश्वर-मय जगत के मंगल के लिए किया गया कर्म सेवा है।

सेवा जीव रूपी शिव से हमें जोड़ने का सबसे बड़ा साधन है। अतः सेवा सबसे बड़ा योग है।

सेवा का फूल निष्कामता के तपोवन में खिलता है। प्रभु को समस्त जगत् और जीवों में देखने की दृष्टि की डाल पर सेवा की कलिका चटकती है। अतः सेवा सबसे बड़ा ज्ञान है।

---

१. पत्रावली : प्रथम भाग : रामकृष्ण आश्रम, नागपुर : पृ० ११२-१३

भक्ति 'भज' धातु से निष्पन्न होती है। 'भज् सेवायाम्'। अर्थात् भक्ति सेवा को कहते हैं। जीव को शिव मानकर जब हम उनकी सेवा करते हैं तब हम मानो शिव की भक्ति ही तो करते हैं। 'यद्यत कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।' हे शिव, मेरे सारे कर्म तुम्हारी ही आराधनाएँ हैं। अतः सेवा सब से बड़ी भक्ति है।

और सेवा से निष्कलुष, निर्मल और कोई कर्म नहीं हो सकता। अतः सेवा सर्वोत्तम कर्म है।

यानी सेवा सर्वोत्तम योग है, महत्तम ज्ञान है, श्रेष्ठतम भक्ति है और शुद्धतम कर्म है।

सेवा के मूल में त्याग का भाव होता है। सेवा से त्याग की सामर्थ्य आती है। त्याग के सरोवर में प्रेम का कमल खिलता है। और प्रेम प्रभु को प्रिय है—'रामहि केवल प्रेम पियारा।' तो सेवा से त्याग, त्याग से प्रेम और प्रेम से प्रभु का एक सूत्र जुड़ा हुआ है। प्रेम और ज्ञान में कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतः समस्त तत्वों के मूल में है सेवा।

स्वामी विवेकानन्द ने इसी सेवा और त्याग पर सदैव जोर दिया और विश्व-मानव को एकात्मता के तार में जोड़ने का प्रयत्न किया। स्वामी ब्रह्मानन्द को लिखे अपने एक पत्र में स्वामीजी ने कहा—'त्यागेनैके अमृतत्व-मानशुः (एकमात्र त्याग के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति होती है) त्याग, त्याग—इसी का प्रचार अच्छी तरह करना होगा। त्यागी हुए बिना तेजस्विता नहीं आने की।'[२] इसी प्रकार एक पत्र में स्वामीजी ने लिखा—'जिस देश में करोड़ों मनुष्य महुए के फूल खाकर दिन गुजारते हैं, और दस-बीस लाख साधु और दस-बारह करोड़ ब्राह्मण उन गरीबों का खून चूसकर पीते हैं और उनकी उन्नति के लिए कोई चेष्टा नहीं करते, क्या वह देश है या नरक? क्या वह धर्म है या पिशाच का नृत्य? भाई, इस बात को गौर से समझो—

सर्वशास्त्र पुराणषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

—सब शास्त्रों और पुराणों में व्यास के ये दो वचन हैं—परोपकार से पुण्य होता है और पर-पीड़न से पाप।"[३]

बड़ी करुणा से भर कर स्वामीजी ने २६ अक्टूबर १८९४ को शिकागो से आलासिंगा को लिखा था—'मेरी ओर मत ताको, अपनी ओर देखो।..... वत्स, प्रेम कभी निष्फल नहीं होता; कल हो चाहे परसों, या युगों के बाद पर सत्य की जय अवश्य होगी। प्रेम ही मैदान जीत लेगा। क्या तुम अपने भाई—मनुष्य जाति को प्यार करते हो? ईश्वर को फिर कहाँ ढूँढ़ने चले हो,—ये सब गरीब, दुःखी, दुबले मनुष्य क्या ईश्वर नहीं है? इन्हीं की पूजा पहले क्यों नहीं करते? गंगातट पर फिर कुआँ खोदने की चेष्टा क्यों? प्रेम की असाध्य-साधिनी शक्ति पर विश्वास करो। क्या तुम्हारे पास प्रेम है? तब तो तुम सर्वशक्तिमान हो। क्या तुम सम्पूर्ण निःस्वार्थ हो? तो फिर तुम्हें कौन रोक सकता है?"[४]

त्याग और प्रेम, सेवा के ये दो चरण हैं। मुझे नाम नहीं चाहिए, यश नहीं चाहिए, धन-वैभव नहीं चाहिए, मुझे कुछ नहीं चाहिए—यह भाव आये बिना सेवा हो नहीं सकती। मेरा हर कर्म प्रभु रूपी जीव और जगत को समर्पित है, मेरी हर शक्ति, हर वस्तु अनन्त जीवों में निवास करनेवाले शिव को अर्पित है, इस भाव के बिना सेवा हो नहीं सकती। और फिर, जिसकी हम सेवा करते हैं उसके प्रति अशेष प्रेम हुए बिना भी सेवा नहीं हो सकती।

जगत का सत्य क्या है? तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो इस विश्व में एक ही परम सत्ता है जो विभिन्न रूपों में, विभिन्न जीवों में अपने को भासमान कर रही है। कोई व्यक्ति केवल मेरा बन्धु

---

२. पत्रावली : प्रथम भाग : पृ० १८१
३. वही : ,, ,, : पृ० १२३
४. वही : ,, ,, : पृ० १९३

नहीं है, बल्कि मेरा निज स्वरूप ही है। जो सत्ता मुझमें व्याप रही है, वही उसमें भी व्यापती है। यदि मैं शिव हूँ तो सारा जगत मेरी ही सत्ता का प्रसार है, मेरा ही आत्म-प्रसार है। ऐसी स्थिति में, संसार के किसी भाग के किसी प्राणी या जीव को आहत कर मैं स्वयं को आहत करता हूँ, उस परम चैतन्य परमात्मा के किसी स्वरूप को ही आहत करता हूँ,। अतएव, जब हमलोग अपने को दूसरों से अलग एक भिन्न सत्ता के रूप में देखते हैं, अपने को सीमित दायरे में आबद्ध कर लेते हैं और अपने निजी हितों के साधन में ही संतुष्ट होने लगते हैं, तब हम एक व्यापक, एक चिरन्तन, एक शाश्वत सत्य को नकारते होते हैं और एक झूठ को, एक धोखे को, एक भ्रम को सिरजते होते हैं, और इस प्रकार एक गहरे अज्ञान में स्वयं को डालकर एक मिथ्या अहं से अपने को जोड़कर अनेकानेक दुःखों को भोगने के लिए हम अभिशप्त हो उठते हैं। लेकिन जब हम दूसरों को दूसरा नहीं मानकर जितना ही उन्हें अपना स्वरूप समझते हैं और इस प्रकार उन परमेश्वर-जीवों के प्रति त्याग और प्रेम के भाव से सराबोर होकर उन्हें अपनी सेवा का नैवेद्य अर्पित करते हैं उतना ही हम सत्य के अधिक करीब होते हैं। स्वभावतः सेवा हमें 'स्व' की पहचान में केवल सहायता ही नहीं करती बल्कि सत्य के समीप भी ला खड़ा करती है। अतएव—

स्व की पहचान ही सत्य-बोध की भूमिका है।

सत्य-बोध ही मुक्ति का सोपान है।

सेवा ही सत्य के कैलास शिखर पर ले जानेवाली संगिनी है।

स्वभावतः सेवा श्रद्धा की प्रतिरूप है।

श्रद्धा ही अपनी पूर्णता में आकर सेवा में रूपायित हो जाती है। क्योंकि, श्रद्धा से किया गया हर कर्म निःस्वार्थ होगा, प्रेम पूर्ण होगा, निष्काम होगा। श्रद्धा की भवानी ही सेवा में ढल कर सत्य के शिव से तदाकार हो जाती है—अर्द्धनारीश्वर हो जाती है। अर्थात् सेवा हमें खंड से अखंड की ओर, सीमा से असीम की ओर, लघुता से पूर्णता की ओर तथा मिथ्या से सत्य की ओर ले जाती है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं—'जिसने एक भी गरीब व्यक्ति की सेवा और सहायता बिना उसकी जाति या संप्रदाय का ख्याल किये हुए, उसमें शिव का बोधकर, की है उससे शिव अधिक प्रसन्न होते हैं बजाय उस व्यक्ति के जो शिव को केवल मंदिरों में ही देखता है।··जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे उनकी संतानों की अवश्य ही सेवा करनी चाहिए।··और यह सुन्दर कर्म है। इस शक्ति से चित्त-शुद्धि होती है और तब शिव, जो प्रत्येक प्राणी में निवास कर रहे हैं, अभिव्यक्त हो उठेंगे।''[५] बड़े आवेग से स्वामी जी ने एक युवक से, जिसे मानसिक शान्ति नहीं मिल रही थीं, जीसस क्राइस्ट की भाँति उपदेश दिया था—'मेरे बच्चे, यदि तुम्हें मेरे शब्दों के प्रति थोड़ा भी आदर भाव हो तो तुम्हें करने के लिए मेरा प्रथम परामर्श यह है कि अपने कमरे की सभी खिड़कियों और दरवाजों को खोल दो··· अनेकानेक व्यक्ति पतन और दरिद्रता के गर्त में डूबे हुए हैं··उनके पास जाओ और उत्साह और परिश्रमपूर्वक उनकी सेवा करो काफी सावधानी के साथ उनकी शुश्रूषा करो, जो भूखा है उसे भोजन दो, अनपढ़ों को शिक्षा दो और अगर इस रीति से तुम अपने भाइयों की सेवा करना शुरू कर दो···तब तुम निश्चय ही शान्ति और सान्त्वना पाओगे।''

आज जीव की शिव-दृष्टि से सेवा करने की जितनी आवश्यकता है उतनी शायद कभी नहीं थी। केवल अपनी आध्यात्मिक साधना के लिए ही नहीं, केवल परम सत्य की उपलब्धि के लिए ही नहीं, केवल स्व-रूप के साक्षात्कार के लिए ही नहीं बल्कि वर्तमान विभ्रान्त, पथहारा और विसंगतियों से पूर्ण समाज के स्वास्थ्य और सौन्दर्य के संवर्धन के लिए भी जीव की शिव-दृष्टि से सेवा करने की प्रयोजनीयता है। एक डाक्टर अपने रोगियों की शिव-दृष्टि से सेवा करे, शिक्षक अपने छात्रों में शिव का दर्शन

५. कम्पलीट वर्क्स ऑफ स्वामी विवेकानन्द : खंड ३ (१९४८), पृ० १४२

कर उन्हें शिक्षा प्रदान करे, राजनेता जन-गण में शिव का साक्षात्कार कर उनकी सेवा करे, दफ्तर का कर्मचारी, कारखाने का मजदूर, खेतों में काम करने वाला किसान हर कोई शिव के लिए, केवल शिव के लिए सेवा करने लगे तब हमारे समाज और राष्ट्र का स्वरूप कितना सुन्दर, कितना सुघड़ और कितना भद्र हो जायगा, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है। इसीसे श्रीरामकृष्ण ने कभी स्वामी विवेकानन्द से कहा था 'दया नहीं रे, जीव की सेवा करो शिव-भाव से।'

भगवान् श्री रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द जी महाराज से मेरी आन्तरिक प्रार्थना है कि वे हम सब में जीव की शिव-दृष्टि से सेवा करने की शक्ति प्रदान करें ताकि ऐसी सेवा के द्वारा हम अपने जीवन को धन्य कर सकें, अपने प्राप्त समय का सदुपयोग कर सकें, श्रद्धा, प्रेम और त्याग की त्रिवेणी में नहाकर सेवा के सुमन लेकर जीव में बसे शिव की मौन-नीरव अर्चना-आराधना कर सकें। जय श्रीरामकृष्ण ! जय स्वामी जी !!

निवेदन

श्री श्री दुर्गा शरणम्

श्री रामकृष्ण मिशन आश्रम

रामकृष्ण वीथि, पटना-४

२४ जुलाई, १९८३

दूरभाष : ५०८१५

सविनय निवेदन,

पटना रामकृष्ण मिशन आश्रम में श्री श्री दुर्गापूजा समारोह मंगलवार दिनांक—११-१०-८३ से रविवार दिनांक १६-१०-८३ तक होगा।

इस अवसर पर आप अपने इष्ट मित्रों के साथ पधारने की कृपा करें।

निवेदक

स्वामी वेदान्तानन्द

सचिव

इस समारोह में आपकी सहायता प्रार्थित है।

श्री श्री कालीपूजा : शुक्रवार ४-११-८३

श्रीरामकृष्णदेव के संबंध में मेरे संस्मरण

— भवतारिणी

[श्री रामकृष्णदेव के सम्बन्ध में यह निम्नोक्त संस्मरण उनके शिष्य-शिष्याओं में सबसे अन्त में देहत्याग करनेवाली उनकी एक शिष्या का है। इस संस्मरण की हृदय-स्पर्शी सरलता, एक अति असाधारण अनुभूति की अभिव्यंजना के साथ युक्त हो, उस अपेक्षाकृत छोटे से साहित्य-भण्डार की अभिवृद्धि में एक अपूर्व योगदान देती है, जो श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में उनके गृही शिष्यों की रचनाओं से निर्मित हुआ है।

लेखिका तब मात्र आठ वर्ष की बालिका थी, जब पहली बार उसकी श्रीरामकृष्ण से भेंट हुई थी, परन्तु इसने और इसके बाद की भेंटों ने उसका समस्त जीवन परिवर्तित कर दिया। भवतारिणी की माँ श्रीरामकृष्ण की रिश्तेदार थीं, और श्रीरामकृष्ण ने ही भवतारिणी का ब्याह अपने एक गृही-भक्त और सम्बन्धी उपेन्द्रनाथ मुखर्जी से तय करवाया था। ये उपेन्द्रनाथ मुखर्जी वही थे, जिनके छापे-खाने में लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द जी) महीनों रहे थे।

उपेन्द्रनाथ बहुत निर्धन थे, पर उन्हें आशा थी कि श्रीरामकृष्णदेव की कृपा से वे धन अर्जित कर लेंगे। और सचमुच बाद में उन्होंने किया भी। वे कलकत्ता के धनी प्रकाशकों में से एक बन गये। उपेन्द्रनाथ की सन् १९१५ में मृत्यु हुई थी।

यह संस्मरण बंगलोर के रामकृष्ण आश्रम में २६ जुलाई १९५५ को सन्ध्यारती के ठीक बाद लिपिबद्ध किया गया था। इसका बँगला से अँगरेजी अनुवाद बंगलोर के तत्कालीन अध्यक्ष (बाद में रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष) स्वामी यतीश्वरनन्दजी ने किया था। यह 'वेदान्त एण्ड दि वेस्ट' के १९६८ के सितम्बर-अक्टूबर वाले अंक में छपा था, जहाँ से यह साभार गृहीत एवं अनूदित हुआ है।

१९६८ में अँगरेजी लेख के छपने के समय भवतारिणी ९४ वर्ष की थीं, पर नीरोग और स्वस्थ थीं तथा बनारस में अपने अन्तिम दिन बिता रही थीं। अपने पति की १९१५ में मृत्यु होने के उपरान्त, वे संन्यासिनी का-सा जीवन जी रही थीं। उस लम्बी उम्र में भी वे कठोर तपस्यामय जीवन-यापन करतीं, उनका एक मात्र आहार कुछ दूध तथा केला था, जो वे रात्रि में श्रीरामकृष्ण देव को पहले अर्पित कर फिर प्रसाद पातीं। उनके पुत्र और एक नाती को गुजरे भी दस वर्ष से अधिक हो गये थे। अभी कुछ समय पूर्व ही भवतारिणी भी इहलोक छोड़कर श्रीरामकृष्ण-लोकवासिनी हो गयी हैं।—सं]

जब मैं आठसाल की थी, एक दिन ठाकुर (श्रीरामकृष्णदेव) हमारे घर भोजन के लिए पधारे। मैं पास कहीं खेल रही थी, खूब नट खट थी। मेरी माँ ने नौकरानी से भेज मुझे बुलवाया। ठाकुर ने मेरा नाम पूछा। माँ ने बतलाया, "हूबी।" (अर्थात् वह बच्चा जो देर मे बोलना आरम्भ करता है।) ठाकुर चाहते थे कि नाम को बदल दिया जाय। उस समय लड़कियों का नाम फूलों पर रखने का प्रचलन था, पर ठाकुर ने दक्षिणेश्वर की जगन्माता के नाम पर मेरा भवतारिणी नाम रखा।

उसके बाद एक बार और जब मैं आठ वर्ष की थी, ठाकुर हमारे यहाँ भोजन के लिए पधारे। उस समय उन्होंने मेरी माँ से मेरी उम्र पूछी। माँ ने बतलाया, "आठ साल।" ठाकुर ने तब कहा, "तुम्हारी लड़की आठ साल की हो गयी! तब तो उसकी शादी (अर्थात् सगाई)

हो जानी चाहिए। मेरी नजर में उसके लिए एक सुयोग्य वर है।" माँ राजी हो गयीं और लड़के के बारे में पूछा। ठाकुर बोले, "ज्यादा पढ़ा-लिखा नहीं है।" इसपर माँ ने कहा, "तब तो ठीक नहीं है।" तब ठाकुर ने जोर देकर कहा, "भविष्य में उसका भाग्योदय होगा, क्योंकि यह (भवतारिणी) लक्ष्मी है।"

एक दिन उपेन्द्रनाथ की माँ ठाकुर के दर्शन के लिए दक्षिणेश्वर गयीं। ठाकुर ने उनसे कहा, "तुम्हारे बेटे की इस लड़की के साथ शादी होनी चाहिए।" वे राजी हो गयीं। नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) उस समय वहीं थे। उन्होंने पूछा, "किसकी शादी होनेवाली है?" ठाकुर ने उन्हें जानकारी दी। तब नरेन्द्र ने इस विवाह के विरुद्ध अपना अभिप्राय दिया, क्योंकि मैं सुन्दर न थी तथा बहुत सांवली थी। ठाकुर से उन्होंने उपेन्द्रनाथ के लिए कोई दूसरी लड़की ढूंढ़ने के लिए कहा। पर ठाकुर ने जोर देकर कहा कि मैं एक भाग्यवान् लड़की हूँ और उपेन्द्रनाथ को मुझे जरूर स्वीकार कर लेना चाहिए, जिससे वह बाद में धनवान् बन सकेगा। उपेन्द्र की माँ राजी हो गयीं। वे और उनके पति इस बात से प्रसन्न थे कि उनका बेटा दक्षिणेश्वर से जहाँ वह ठाकुर के साथ रह रहा था, अपने घर लौट जाएगा तथा साथ में पुत्रवधू भी मिलेगी।

विवाह के पश्चात् नरेन्द्र हमारे यहाँ आया करते थे। जब विवाह तय हो गया, उसी बीच मुझे मालूम पड़ा कि मेरे सांवले रंग आदि के बारे में नरेन्द्र ने क्या कहा था, इसीलिए मैं उनसे बहुत नाराज थी। जब वे हमारे घर आते, तो मैं उनका आतिथ्य-सत्कार न करती तथा जलपान की चीजें उनके पास न ले जाती। मेरी माँ ने उनको बतलाया कि उन्होंने मेरे रंग को लेकर जो आपत्ति की थी उससे मैं नाराज हूँ। तब नरेन्द्र मेरे प्रति बहुत अच्छे हो गये और मुझे सांत्वना दी।

जब मैं पिता गृह में थी, तब मेरी माँ ने मुझसे कहा कि मैं घर के भीतर ही रहूँ और अच्छा-अच्छा खाऊँ, जिससे मेरा रंग निखर उठे। पर जब मेरी छोटी-छोटी सहेलियाँ आतीं और मुझे बुलातीं, तब उनके साथ खेलने दोपहर में, जब सब भोजनोपरांत विश्राम करते होते, बाहर भाग जाती और उनलोगों के उठने से पूर्व लौट आती। पर एक दिन मुझे लौटने में देर हो गयी, सब लोग उठ गये थे। क्या करूँ? तब मैंने देखा ठाकुर आये हुए हैं और बैठकखाने में बैठे हुए हैं। मैंने मनही मन सोचा यदि मैं इनके पास जाकर बैठ जाऊँ, तो माँ को पता भी नहीं लगेगा और सोचेंगी कि मैं उन्हीं के पास थी। ठाकुर ने मुझे दाँतो से नाखून काटते हुए देखा, उन्होंने मुझे ऐसा करने से मना किया। फिर मुझसे पूछा, "मेरे बारे में तू क्या सोचती है? कुछ लोग कहते हैं कि मैं भगवान स्वयं हूँ, उसके बारे में तेरा क्या विचार है?"

मैंने उत्तर दिया, "नहीं, नहीं, तुम भगवान नहीं हो, तुम मेरे पति के गुरु हो।" तब एकदम सहसा मुझे मधुर सुगन्ध मिली। वह देवी-देवताओं की पूजा में लगने वाले अगरु की-सी सुगन्ध थी। मैंने सोचा, जैसा कि कई लोग कहते हैं कि ठाकुर साक्षात् ईश्वर हैं, तो कहीं उन्हीं से तो यह नहीं आ रही है। मैंने उसे खोज निकालने की कोशिश की और उनके कानों की तरफ देखा। जब मैं उनके बहुत करीब थी, तब सहसा ठाकुर के बाह्य रूप का लोप हो गया और उसकी जगह दिव्य प्रकाश आलोकित हो उठा, जिसकी छटा सूर्योदय के समय के सूर्य के समान थी और उनका आकार उस प्रकाश पुंज से बना दिखाई दे रहा था। मैं बोल उठी, "ठाकुर, ठाकुर, ऐसा तुम क्यों कर रहे हो?" उनका बाह्य रूप लगभग लुप्त हो गया था। मैंने उनकी देह को छूकर देखना चाहा, पर नहीं छू सकी। मैंने उन्हें बार-बार पुकारा, पर उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया, इसीलिए मैं बैठकर उनकी तरफ आतुरता से देखने लगी। मैं नहीं जानती ऐसा कब तक रहा। फिर कुछ समय पश्चात् प्रकाश मद्धम होता गया और मैं ठाकुर को पुनः ठीक से देख सकी। मैंने दूसरों को बुलाने की कोशिश की, पर लगा किसी ने कोई ध्यान नहीं दिया।

अपनी ससुराल में जब मैंने अपनी सास को यह

सारी घटना बतलायी, तो उन्होंने मेरी बात समझ ली, उन्होंने उस पर विश्वास किया और मेरे पति भी बहुत खुश हुए। मेरी सास ने मुझसे कहा, "अब जब अगली बार तुम ठाकुर से भेंट करो, उनसे मन्त्र देने के लिए कहना।" उस समय में मन्त्र क्या होता है यह नहीं समझती थी। मैं सोचती थी कंगन आदि गहने जैसी वह भी कोई उपहार वाली चीज होगी।

जब ठाकुर फिर एक दिन हमारे घर आये, तो मैंने उनसे कहा, "मेरी सास ने मुझसे कहा है कि तुम्हें मैं मंत्र देने के लिए कहूँ।" मैं उनके पास बैठ गयी और "मुझे मंत्र दो" "मुझे मंत्र दो।" कहने लगी। आप स्मरण रखें कि उस समय मैं मात्र आठ साल की बच्ची ही थी। जब मैंने जोर दिया, तो ठाकुर ने मुझसे कहा, "ठीक है, तुझे मैं एक दूंगा। तूने शिवजी को देखा है!"

मैंने कहा, हाँ।

उन्होंने कहा, "यदि वे तुझे अच्छे लगे, तो उनसे प्रेम कर।" फिर पूछा, "तूने काली को देखा है?"

मैंने उत्तर दिया, "हाँ"।

उन्होंने कहा "तुझे यदि वे अच्छी लगे, तो उनसे प्रेम कर।" फिर कहा, "क्या तूने कृष्ण को देखा है?... राम?... राम को कहाँ देखा है?"

"अपनी माँ के यहाँ।" मैंने उत्तर दिया। उन्होंने कहा, "यदि वे तुझे अच्छे लगते हों, तो उनसे प्रेम कर।" फिर कहा, "यदि तू मुझे चाहती है, तब मुझसे प्रेम कर।"

"हाँ, मैं तुमसे प्रेम करती हूँ," मैंने उत्तर दिया।

"मैं तुमको बहुत चाहती हूँ, परन्तु यदि तुमने मंत्र नहीं दिया, तो मैं अपनी ससुराल नहीं लौटूंगी।" तब ठाकुर ने कहा, "अच्छा ठीक है, तू अपनी सास के पास जाकर पूछ आ कि तुझे कौन सा मंत्र दूं। यदि मेरे पास होगा, तो मैं उसे दे दूंगा; नहीं तो मैं तुझे पैसे दे दूंगा, तू उससे वह खरीद लेना। देख, अभी मेरे पास कुछ नहीं है।" मैंने देखा कि उनकी जेब खाली थी। तब मुझे समझ में आया कि ठाकुर के पास अभी कुछ नहीं है। फिर भी मैंने उनसे कहा, "यदि तुम मुझे वह नहीं दोगे तो मैं अपनी ससुराल नहीं लौटूंगी।"

अपनी ससुराल लौटने पर मैंने अपनी सास को जो कुछ हुआ था, वह बतलाया। तब वे बहुत प्रसन्न हुयीं और कहने लगीं, "वही तो मंत्र है।"

समय बीतता गया, मैं बड़ी हो गयी। फिर भी मैं ठाकुर से यह पूछने की उत्सुक थी कि उन्हें उस दिन क्या हो गया था, जो मैंने उन्हें प्रकाशमय देखा था। मेरा कुतूहल बढ़ता जा रहा था, पर उनसे पूछने का उपयुक्त समय नहीं मिल पा रहा था। एक दिन मेरे ससुर जी मुझे दक्षिणेश्वर लेकर गये और ठाकुर ने मुझे श्री माँ (सारदा देवी) के पास कुछ दिन के लिए छोड़ जाने को कहा। तब मैंने अपने मन में निश्चित किया कि अब उचित अवसर ढूँढ कर अपने प्रश्न को पूछूंगी। पर मैं ठाकुर से बात नहीं कर पायी, क्योंकि वे प्रायः सब समय भक्तों से घिरे होते। शाम को वे काली मंदिर जाते और संध्यारती देखते। एक दिन जब वे वहाँ थे, तब मैं उनके कमरे में जाकर बैठ गयी और अपना प्रश्न पूछने के लिए प्रतीक्षा करने लगी। मंदिर से लौटने के बाद वे मेरे पास आकर बैठ गये। पर इससे पहले कि मैं पूछ पाती, मैंने फिर उनके बाह्य रूप को दिव्य ज्योति में लुप्त होते देखा। मैंने उन्हें बार-बार छुआ, पर कुछ नहीं हुआ। उनकी देह बहुत मुलायम थी, मानों उसमें हड्डियाँ न हों। उसके बाद मेरा बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया और मेरा सिर उनकी गोद में गिर पड़ा। जब मुझे होश आया, तब देखा ठाकुर मेरी पीठ पर हाथ फेर रहे हैं। मैं कह उठी, "ठाकुर, तुम कौन हो? क्या तुम भगवान हो? क्या तुम कृष्ण हो? क्या तुम राम हो? तुम कौन हो, ठाकुर?" तब उन्होंने मुझे पीने के लिए जल दिया।

(विवेक ज्योति, वर्ष १४ अंक ४ से साभार)

मन में सदा यह भाव रखना कि घर-द्वार, परिवार इनमें से कुछ भी तुम्हारा नहीं है; सब भगवान के हैं, तुम भगवान के दास हो, उन्हीं की आज्ञा का पालन करने संसार में आये हो। यह भाव दृढ़ हो जाने पर वास्तव में किसी भी वस्तु के प्रति ममत्व बुद्धि नहीं रह जाती।

—श्री रामकृष्ण

तीन ऊर्ध्वगामी कविताएँ

—राजेन्द्र किशोर
रीडर, हिन्दी विभाग, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा (बिहार)

(एक)

तुमसे परे मैं अदृश्य पुरुष हूँ
शारदीय आकाश की तरह उद्भासित
प्रसन्न नीलवर्ण किन्तु स्थिर, निराकार,

प्रकट मैं तुमसे अंतःभाषित हूँ
तुम्हीं से रूपवान, गतिमय, प्राणवंत,
एक अनुरोधित जीवंत शिव ।

तुम्हारा चुम्बन
मेरे अधरों की स्मिति
तुम्हारा स्पर्श
मेरी त्वचा के इंद्रध्वज
तुम्हारा महासुख
प्रचंड विस्फोटों से भरा मेरी नाभि का आग्नेय सूर्य ।

तुम : मेरी प्रिया
तुम : मेरा सृजन
तुम : मेरी माँ ।

करो
उस अग्नि का अवधान करो
जो मुझे दे
मेरा भोग
मेरी प्रतिष्ठा
मेरा हिमाच्छादित स्निग्ध कैलाश
मेरा तपः दीप्त पुंसत्व
मेरा साकार शिवत्व ।

(दो)

भृंगी,
अपने कंकाल में अवस्थित
अपनी मृत्यु में संज्ञाहीन
अपने अज्ञानवस मेरे आशीर्वाद में भी अप्रसन्न
लो यह तीसरा चरण
नए संवेग का नया सूर्योदय ।
खोलो अपनी महांधकार में डूबी आँखें
करो प्रणाम—
यह आकाश है—अर्द्ध मौन, अर्द्ध मुखर
शब्द की इयत्ता
यह पृथ्वी है—अर्द्ध गुप्त, अर्द्ध प्रकट
गंध की महत्ता

यह मैं हूँ—अर्द्ध शव, अर्द्ध शिव
सत्य की सत्ता
दृष्टि से मध्यबिंदु से दृश्य
तुम्हारी श्रद्धा
तुमको ही अपरिचित
दंभ से अधूरी
मोह से विविक्त ।

(तीन)

इतनी करालता में
इतना सौंदर्य
इतनी उपेक्षा में
इतना ममत्व
इतने शासन में
इतनी अनुकंपा
इतनी निरपेक्षता में
इतना निजत्व. . . .

किसको अर्पित करूँ अपनी कृतज्ञता ?
इसको ?

जो मृत्यु है
तुम्हारा आयोजन ?
या इसको ?
जो जीवन है
मेरा अनुरंजन ।

शिक्षा : मानव-पूर्णता के लिए

— श्रीमत स्वामी अनन्यानन्दजी महाराज

अध्यक्ष, अद्वैत आश्रम, मायावती (हिमालय)

शिक्षा का लक्ष्य

शिक्षा का लक्ष्य है : मानव-जीवन की सामान्य, कच्ची मिट्टी को श्रेष्ठ एवं उत्तम चरित्र में ढालकर प्रस्तुत करना। दूसरे शब्दों में शिक्षा का लक्ष्य है मानवीय श्रेष्ठता एवं पूर्णता के परमोच्च शीर्ष की उपलब्धि। इसका तात्पर्य है हृदय एवं मस्तिष्क के उन कतिपय गुणों की उपलब्धि जो जीवन के नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं, और जिन्हें मनुष्य अपने प्रयासों एवं आत्मानुशासन से प्राप्त करता है। हमारी उपनिषदें—उच्चतम भारतीय दर्शन के आदिस्रोत—मानव-जाति के समक्ष इन श्रेयादर्शों को निम्न प्रकार से प्रस्थापित करती हैं : सत्यनिष्ठा, नैतिक जीवन, व्यक्तिगत जीवन में शुद्धि, आत्मविश्वास, शरीर-बल, पौरुष, दूसरों के प्रति प्रेम, सभी जीवों के प्रति करुणा, मनुष्य एवं ईश्वर की सेवा, और मनुष्य में ईश्वर की सेवा—उसे ईश्वर की अभिव्यक्ति मानकर, और उसी भाव से। उपनिषदों के उक्त आदर्श सच्ची शिक्षा के उद्देश्य हैं। जब किसी साधक के शरीर और मन में क्रमिक एवं कठोर तप की प्रक्रिया से उक्त गुणों की उपलब्धि होती है तब उसके व्यक्तित्व का पुष्पित होना कहा जाता है। उक्त प्रक्रिया से उस व्यक्ति का मानवीकरण होता है, जिससे वह त्याग के द्वारा ईश्वर की दिशा में और प्रेम के द्वारा मनुष्य की दिशा में कार्य करने के समर्थ होता है।

हमारे अपने ही युग में, उपनिषदों की जीवंत मीमांसा की तरह श्रद्धेय, श्री रामकृष्ण ने कहा था : "यतो दिन बाँची ततो दिन शीखी," अर्थात् मैं जबतक जीवित हूँ, सीखता ही रहूँगा। शिक्षा एक जीवनव्यापी प्रक्रिया है। विद्यालय एवं महाविद्यालय की औपचारिक शिक्षा की समाप्ति के साथ इसका अंत नहीं होता। व्यक्ति के लिए सारा जीवन ही एक विद्यालय है। इस विद्यालय रूपी जीवन में अनुभव ही सबसे बड़ा शिक्षक है। प्रत्येक व्यक्ति जिससे हम मिलते हैं और प्रत्येक परिस्थिति जिससे हमारा साक्षात होता है, दोनों हमें एक शिक्षा प्रदान कर सकते हैं, यदि हम अपने जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों के प्रति व्यापक रूप से जागरूक एवं संवेदनशील हों। हम अपने नित्यप्रति के जीवन में सदैव ही शुभ एवं अशुभ दोनों शक्तियों के समक्ष खुले होते हैं। अच्छाई एवं बुराई दोनों ही हमारे लिए शिक्षाप्रद हैं—अच्छाई अनुसरण के लिए और बुराई परित्याग के लिए। अच्छाई को आत्मसात करने से मनुष्य श्रेष्ठ एवं तेजस्वी होता है तथा बुराइयों को छोड़ देता है। बुराई की चपेट में पतित होकर वह कुटिल हो जाता है और स्वजनों के लिए अभिशाप बन कर रह जाता है। प्रत्येक व्यक्ति एवं परिस्थिति से सीखते हुए जीवन के इस विद्यालय में ही पूर्ण चरित्र गठित होता है। इसके लिए अपने उद्देश्यों और प्रयासों में हमें उत्कंठित और ईमानदार होना चाहिए। जीवन के विद्यालय में अपने आप को धोखे में रखने की कोई गुंजाइश या औचित्य नहीं है। जीवन एक कठोर सबक सिखानेवाला शिक्षक है। मानव-मूल्यों के क्षितिज पर या तो यह हमें परमोच्च पद पर उठाता है, या तो यह मनुष्य का निर्माण या उसका पूर्ण विनाश करता है।

शिक्षा—परमोच्च रामबाण

स्वामी विवेकानन्द यह कहने के अभ्यस्त थे कि ऐसी कोई समस्या नहीं है जिसका समाधान उस चमत्कारिक शब्द—'शिक्षा,' के द्वारा न किया जा सके। उन्होंने यह बात करीब अस्सी वर्ष पहले कही। भारत के इस जगत् प्रसिद्ध पुत्र ने उक्त शब्द को किस अर्थ में समझा और उसे किस प्रकार परिभाषित किया? उनकी दृष्टि में शिक्षा प्रत्येक नर-नारी में निहित उसकी स्वाभाविक पूर्णता की अभिव्यक्ति है। दस खंडों में, हिन्दी में प्रकाशित, विवेकानंद साहित्य" के विभिन्न खंडों में, कितने ही स्थलों पर, स्वामीजी ने 'शिक्षा' के प्रस्तुत संदर्भ की विवेचना की है।

स्वामीजी का अडिग विश्वास था कि अंधविश्वासों एवं धर्म की रूढ़िग्रस्त धारणाओं से मुक्त, पवित्र आध्यात्मिक जीवन, सभी प्रकार की शिक्षा एवं संस्कृति की दृढ़ आधारभूमि है। यही कारण है कि उनकी परिभाषा "शिक्षा मनुष्य में निहित स्वाभाविक पूर्णता की अभिव्यक्ति है" उनकी धर्म की परिभाषा कि "धर्म मनुष्य में निहित ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति है" से भिन्न नहीं लगती है। अगर 'पूर्णता' को मौलिक एवं शुद्ध अर्थ में लें तो वह 'ईश्वरत्व' के समतुल्य ही है। और तब 'शिक्षा' एवं 'धर्म' में कोई अन्तर नहीं रह जाता है।

अपने सांस्कृतिक-सह-आध्यात्मिक विकास की विशेष श्रेणी में उन्नीत होकर मनुष्य इस हद तक श्रेष्ठता को प्राप्त कर लेता है कि उसमें उदाहरणीय सद्गुणों एवं उच्चताओं की अभिव्यक्ति होती है, तथा वह अपने स्वजनों और बंधु-बांधवों के प्रति उदारतापूर्ण एवं शीलसंपन्न व्यवहार करने लगता है। इसे हम चरित्र में पूर्णता की उपलब्धि कहते हैं विकास के पथ पर और अधिक अग्रसर होने पर उसका समग्र जीवन, विचार एवं व्यवहार इस प्रकार व्यञ्जित होने लगते हैं कि उसे ईश्वर की तरह ही माना जा सके। ऐसे ही हैं हमारे संत और ईश्वर-पुरुष जिनके समन्वित जीवन में शिक्षा और धर्म पृथक ईकाइयों की तरह न रहकर परस्पर अभिन्न और एकमेव हो जाते हैं। सच्ची शिक्षा और सत्य धर्म का यही आदर्श है।

शिक्षा : मानव-निर्माण एवं चरित्र-गठन के लिए

स्वामी विवेकानन्द अपने देश के बच्चों के लिए और संसार में सर्वत्र सभी बच्चों के लिए "मानव-निर्माण एवं चरित्र-गठन करनेवाली शिक्षा" चाहते थे। मानव, सही अर्थ में जो सुशील और सबका प्रियपात्र हो, जिसका चरित्र पूर्ण पवित्र और निर्दोष हो और जिसका कभी पतन नहीं हो। ऐसा मनुष्य उच्च मूल्यों एवं आदर्शों को धारण करके उन्हें अपने दैनिक जीवन एवं व्यवहार में अभिव्यक्त करता है। स्वामीजी ने कहा था: "शिक्षा सूचनाओं का ढेर नहीं हैं जो तुम्हारे मस्तिष्क में भरी जाती है, और अनपची रहकर जीवन पर्यन्त तुम्हें अमर्यादित और उपद्रव-ग्रस्त रखती है। हमें आदर्शों को इस प्रकार आत्मसात करना होगा कि जीवन एवं मानव का निर्माण हो तथा चरित्र का गठन हो सके। ..... सिर्फ किताबी शिक्षा से कुछ नहीं होगा। हम वैसी शिक्षा चाहते हैं जिससे चरित्र का निर्माण हो, मन की शक्ति बढ़े या मनोबल संवर्द्धित हो, बुद्धि व्यापक और विस्तृत हो, और जिनके द्वारा हम आत्म-निर्भर होकर अपने पैरों पर खड़े हो सकें। हमें ऐसी शिक्षा-प्रणाली चाहिए जिसमें वेदान्त और पाश्चात्य विज्ञान दोनों साथ-साथ हों तथा ब्रह्मचर्य, श्रद्धा एवं आत्मविश्वास मार्गदर्शन करनेवाली नीति हो।"

संसार के विभिन्न देशों में यात्रा करके, और वहाँ औपचारिक शिक्षा के भी लाभदायक परिणामों को देखते हुए, स्वामी जी ने मात्र दुःख से संतप्त होकर ये शब्द कहे थे: "शिक्षा, शिक्षा, मात्र शिक्षा। यूरोप के अनेक नगरों में यात्रा करने के क्रम में, वहाँ के गरीब लोगों की भी सुख-सुविधा तथा शिक्षा को देखकर, हमारे मन में अपने देश के दीन-दुखियों की दशा का स्मरण होता था,

और मैं पीड़ा से रो देता था। क्या अन्तर था उनमें और हममें ? अंतर शिक्षा का था—यही उत्तर मुझे मिला।"

देश की वर्त्तमान आवश्यकता

निस्संदेह, शिक्षा ही इसका उत्तर है। व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर हमें पीड़ित करनेवाली सभी बुराइयों की यह एकमात्र रामबाण औषधि है। हमारे बच्चों को समुचित प्रकार की शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए—उन बच्चों को जो कल देश के नागरिक होने जा रहे हैं। देश के नेतृत्व का शीर्ष दायित्व उन्हीं के कन्धों पर आनेवाला है। हम किस तरह उनका निर्माण करने और उसके लिए प्रस्तुत करने जा रहे हैं ? सारे देश की शिक्षण-संस्थाओं में मिलनेवाली आज की शिक्षा सूचना प्रदान करने वाली है, निर्माण करने वाली नहीं। विज्ञान एवं कला के क्षेत्र में प्रतिवर्ष हमारे विश्वविद्यालय बहुत बड़ी संख्या में डॉक्टर, इन्जीनियर, तकनीक विशेषज्ञ एवं अन्य स्नातकों को तैयार कर रहें हैं। उनमें से अनेक छात्र अपने विषयों में असाधारण रूप से प्रतिभाशील एवं मेधावी हैं। विश्वविद्यालयों या महाविद्यालयों से इस तरह निकलनेवाले छात्र-छात्राओं से; जिन्होंने अपने निकाय के पठित विषयों में असाधारण कुशलता प्राप्त कर ली हैं, शायद ही कोई छात्र मिलता है जिसने अपने जीवन में सच्चरित्रता की सुगन्ध को विकसित किया हो। आज देश में उन चरित्रवान पुरुषों एवं महिलाओं की आवश्यकता है जो राष्ट्रीय कार्यों का दायित्वपूर्वक संपादन कर सकें। मनुष्य की प्रतिष्ठा के साथ श्रम की महिमा का सम्यक् एवं शुभ समन्वय होना चाहिए।

भारत विकास के पथ पर चल चुका है। कृषि, उद्योग एवं विज्ञान के क्षेत्र में विकास के लिए यह अग्रसर हुआ है। वैज्ञानिकों, अभियंताओं तथा तकनीक विशेषज्ञों की संख्या की दृष्टि से यह देश संसार में तीसरे स्थान पर होने का गौरव अनुभव कर सकता है। भारत ने विशाल और बहुत बड़ी लागत वाली वृहद योजनाओं को कार्यान्वित करना प्रारंभ कर दिया है; जिनमें दसों और सैकड़ों करोड़ रुपयों का व्यय होता है। अगर इन बहुमूल्य योजनाओं का संचालन करने वाले कर्णधार लोग चरित्रवान मनुष्य नहीं हों तो इन पर खर्च होने वाली बहुत बड़ी राशि अनुचित और अनिष्ट रास्तों से नष्ट हो जायगी। रुपये के प्रलोभन को रोकना बहुत कठिन है। त्याग तथा आत्मसमर्पण के आदर्श से प्रेरित और राष्ट्र की सेवा में निष्ठापूर्वक समर्पित, चरित्रवान मनुष्य ही इस प्रलोभन से ऊपर उठकर अपनी सारी शक्तियों को कर्त्तव्य पालन में नियोजित कर सकता है और अनुचित तरीके से एक गंदा सिक्का भी नहीं छू सकता है। इसके लिए महान् तथा अदम्य साहस की आवश्यकता है और अच्छाई एवं निस्वार्थता की शक्तियों में अडिग विश्वास की जरूरत है, और साथ ही सजातीय बन्धु-बान्धवों की आत्म समर्पण की भावना से सेवा करने में भी निष्ठा एवं विश्वास की आवश्यकता है। थोड़ी असंगता एवं कर्त्तव्यनिष्ठा के द्वारा इस प्रकार की भावना का विकास किया जा सकता है।

शिक्षा का उद्देश्य

शिक्षा का उद्देश्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में स्वामी विवेकानंद कहते हैं : "सभी शिक्षा, सभी प्रकार के शिक्षण का ध्येय होना चाहिए—मानव-निर्माण। सभी प्रकार के प्रशिक्षण का लक्ष्य मनुष्य को ही विकसित एवं संवर्द्धित करना है। वह प्रशिक्षण जिसके द्वारा इच्छा शक्ति की धार और उसकी अभिव्यक्ति संयमित होकर फलदायी हो जाय, शिक्षा कहा जाता है।" अगर हमारे युवक और युवतियाँ इस प्रकार की शिक्षा एवं प्रशिक्षण प्राप्त करें जिससे इच्छा-शक्ति की धार और अभिव्यक्ति संयमित एवं फलदायी हो जाय, तब हम इस विषय में आश्वस्त हो सकते हैं कि अधिकार के उच्च पदों पर आसीन होकर राष्ट्रीय महत्व की वृहत् योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए उनके हाथों में रुपये की बड़ी-से-बड़ी राशि सौंपी जाय। उनमें कोई कमी नहीं रहेगी और न तो वे आसानी से रुपये के प्रलोभन में ही पड़

सकेंगे, क्योंकि उन्होंने अपनी इच्छा शक्ति को वश में कर लिया है, और इस तरह वे अनिष्ट प्रवृत्तियों के शिकार नहीं होंगे।

इस प्रकार की चरित्र-निर्माण करनेवाली शिक्षा ग्रहण करने पर मनुष्य, प्रकृति के हाथों में किसी खिलौने की तरह नहीं रह जाता। विज्ञान तथा तकनीकी ज्ञान के द्वारा बहुविध प्राकृतिक शक्तियों को अपने वश में करके वह बाह्य प्रकृति पर एवं आत्म-संस्कार तथा आध्यात्मिक विकास के द्वारा अपनी आंतरिक प्रकृति पर शासन करने लगता है। इस तरह बाह्य एवं अभ्यंतर प्रकृतियों पर पूर्ण संयम के उपलब्ध होने को स्वामी विवेकानन्द ने "पूर्ण शिक्षा" के नाम से अभिहित किया।

ब्रह्मचर्य—मौलिक आवश्यकता

इस आत्म-संस्कार तथा आध्यात्मिक विकास के लिए मन की एकाग्रता एक अनिवार्य प्रारंभिक आवश्यकता है। वस्तुतः जीवन के प्रत्येक आयाम में तथा मानवीय कर्म के हर क्षेत्र में इस एकाग्रता की आवश्यकता अत्यन्त ही मौलिक है। मनुष्य की शिक्षा, संस्कृति एवं विकास के इस पहलू पर प्रकाश डालते हुए स्वामीजी कहते हैं: "मेरी दृष्टि में मन की एकाग्रता ही शिक्षा का सार है, न कि तथ्यों का समाहरण। अगर मुझे एक बार फिर से शिक्षा प्राप्त करनी पड़े, तो मैं तथ्यों का अध्ययन बिल्कुल ही नहीं करूँगा। मैं एकाग्रता और असंगता की शक्ति ही विकसित करूँगा, और तब इस तरह पूर्णता को प्राप्त करने के द्वारा, इच्छानुसार तथ्यों का समाहरण करूँगा।

एकाग्रता की इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्म-नियंत्रण तथा मन, वाणी एवं कर्म की पूर्ण शुद्धि की आधारभूत आवश्यकता है। पूर्ण आत्मनियंत्रण महान बौद्धिक शक्ति का जनक है। शुद्ध एवं पवित्र मस्तिष्क में अदम्य, अत्यधिक ऊर्जा एवं विशाल इच्छा शक्ति का निवास होता है। आत्म-नियंत्रण या ब्रह्मचर्य हमें सजातीय बंधुओं पर बृहत् वर्चस्व प्रदान करता है। इतिहास के विगत युगों में संसार में सर्वत्र ही आध्यात्मिक पुरुषों तथा महिलाओं का जीवन संयमित, नियंत्रित तथा मन, वाणी एवं कर्मों में सर्वथा शुद्ध एवं पवित्र रहा है। इस ब्रह्मचर्य ने उन्हें मन की आश्चर्यजनक शक्ति प्रदान की थी। यह कहते हुए दुःख होता है कि यह बहुमूल्य संपदा—संयम एवं शुद्धि दोनों—अपनी अनुपस्थिति और दुर्लभता को लेकर ही लोगों में सर्वत्र, खासकर संसार के युवा वर्ग में, स्पष्ट और प्रत्यक्ष जान पड़ती है। आज के युवा जगत में होनेवाले अधिकांश भद्दे आचरण और अशोभनीय घटना-क्रमों के लिए इस गुण का अभाव ही जिम्मेदार है। आत्मसंयम एवं चित्त-शुद्धि की अनुपस्थिति से परिणमित मन की एकाग्रता के अभाव ने ही युवा पुरुष एवं महिलाओं को पथभ्रष्ट कर दिया है। किसी वर्ग विशेष या मानव-समाज के किसी खास हिस्से में सीमित न होकर यह एक विश्व-व्यापी घटना हो गयी है। आज के युवा जगत में व्याप्त हुआ भयानक भटकाव तथा उसकी विचित्र लक्ष्यहीनता इसी घटना का परिणाम है।

श्रद्धा का सिद्धान्त

पवित्र एवं आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति के लिए पहली शर्त्त है विचार, शब्द एवं कर्म में शुद्धि का होना। इस प्रकार के जीवन में सहज ही श्रद्धा या आत्म-विश्वास का उदय होता है, जो किसी प्रकार के लौकिक या आध्यात्मिक विकास के लिए बहुत आवश्यक है। स्वामी विवेकानन्द हमारे युवा-वर्ग को इस आत्म श्रद्धा या अपने में विश्वास को सतत् अपनाने और संवर्द्धित करते रहने के लिए प्रबोधन तथा प्रोत्साहन प्रदान करने में कभी नहीं थकते थे। उन्हीं के शब्दों में: "हमें इसी श्रद्धा की आवश्यकता है। मनुष्य मनुष्य के बीच जो विभिन्नता होती है, श्रद्धा के तारतम्य से ही, उसी के अंतर के कारण है, और दूसरा कोई कारण नहीं है ...अवश्य ही इस श्रद्धा का प्रवेश तुम्हारे जीवन में होना चाहिए। पाश्चात्य जनजातियों के द्वारा जो भी भौतिक शक्ति चरितार्थ की हुई देखते हो, वह इस श्रद्धा से ही

संभव हुआ है, क्योंकि वे अपने शरीर-बल में विश्वास करते हैं और अगर तुम अशरीरी आत्म-शक्ति में विश्वास करो तो वह इससे कितना अधिक कार्य करेगा !"

इस संदर्भ में स्वामीजी आगे कहते हैं : "श्रद्धा या वास्तविक विश्वास के सिद्धान्त का उपदेश प्रदान करना ही मेरे जीवन का पवित्र उद्देश्य रहा है। मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि श्रद्धा-विश्वास मानवता के सर्वाधिक शक्तिशाली तत्वों में से एक है। पहले स्वयं में, अपने में, विश्वास प्राप्त करो। यह जान लो कि यद्यपि कोई एक छोटा-सा बुलबुला ही क्यों न हो और दूसरा पर्वत तुल्य ऊँची लहर, किंतु लहर एवं बुदबुद दोनों के पीछे अनन्त सागर ही तो है। मेरे और तुम्हारे परिपार्श्व में अनन्त सागर ही है ....अतः, भाइयो, जन्म काल से ही यह महान्, जीवन-रक्षक, शीलप्रदायक, उदार सिद्धान्त अपने बच्चों को सिखाओ।" स्वामीजी की यह घोषणा थी कि प्राचीन धर्म उन्हें नास्तिक कहते थे जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे, किन्तु आधुनिक धर्म उसे नास्तिक कहता है जिसे स्वयं अपने में विश्वास नहीं है। इस तरह के श्रद्धा विश्वास के साथ-साथ स्वयं ही शरीर में शक्ति और मन में अभय उत्पन्न होता है।

बनो और बनाओ

शरीर और मन के ये सारे शक्ति-तंतु जब एक साथ ग्रथित हो जाते हैं अर्थात् चित्त की एकाग्रता, जीवन की पवित्रता, अपने में विश्वास, शरीर में शक्ति तथा मन में अभय—ये सभी जब एक ही व्यक्ति में सघन और समाहित हो जाते हैं, तो उस चरित्र का प्रभाव एवं बल अदम्य और अजेय हो जाता है। ऐसा व्यक्ति जीवन के किसी दुख और दबाव के समक्ष घुटने नहीं टेकता। इस प्रकार से गठित चरित्रवाला मनुष्य समाज में एक शक्तिशाली ऊर्जा-केन्द्र की तरह परिगणित होता है। वह न तो छिपाया जा सकता है और न समाज की दृष्टि को बिना आकर्षित किये रह सकता है। वह अवश्य ही उन दूसरों को झकझोरता और प्रभावित करता है, जिनके बीच रहकर अपना कार्य करता है, और उन्हें शुभ चरित्र गठन में सहायता पहुँचाता है। इस तरह के चेतन, जागरूक और विवेकवान मन वाले व्यक्तियों के लिए ही स्वामी विवेकानन्द का यह अविस्मरणीय और अनुगुंजित उद्बोधन है : "बनो और बनाओ।" प्रबुद्ध साधकों के लिए ही यह उद्बोधन सार्थक है, और उन्हें ही यह संबोधित करता है।

इस बात पर जोर देकर कहा जा सकता है कि चरित्र या मानवीय पूर्णता ईश्वर की ओर से मिला हुआ उपहार नहीं है। यह अपने प्रयास से, अपने आप को मिटाकर, स्वार्थ-त्याग से, कर्त्तव्य-पालन एवं उच्चादर्शों के प्रति निष्ठापूर्ण समर्पण से, प्रार्थना और ध्यान से प्राप्त होनेवाली मानवीय संपदा है। यह मेरी शुभाशंसा है कि अपने लोगों की भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक प्रगति के लिए कार्य करने वाले अधिक एवं और भी अधिक संख्या में चरित्र संपन्न पुरुष एवं महिलायें तैयार हों।

"चकमक पत्थर के टुकड़े में गुप्त अग्नि की तरह, ज्ञान मनुष्य के मन में निहित है, शिक्षा का उपदेश वह घर्षण है, जो उसे प्रकट एवं अभिव्यक्त करता है।"

—स्वामी विवेकानन्द

जागो वीर मिटाकर सपने

—ब्रह्मचारी वरदाचैतन्य

रामकृष्ण मिशन बालकाश्रम, रहड़ा (पं० बंगाल)

'उत्तिष्ठत जाग्रत' !

उठो, जगो !

अनेक युगों के पूर्व से महाकाल के दुस्तर व्यवधान का अतिक्रमण कर आविर्भूत हुए एक सत्यद्रष्टा ऋषि; जो नवीन होकर भी प्राचीन थे, युवक होकर भी ज्ञान-वृद्ध थे, भीतर से सदा ध्यानमग्न रहकर भी बाहर से उल्का की भाँति प्रचण्ड गतिसम्पन्न थे। उपनिषद् के ऋषि ने जिस महामन्द्रध्वनि का उच्चारण कर आत्मज्ञान प्राप्त करने के निमित्त प्रयत्नशील होने के लिए मानवात्मा का आह्वान किया था, जिस मन्द्रध्वनि के प्रभाव से कुरुक्षेत्र के युद्ध में 'क्लीवता' और 'विषाद' के ज्वार से आक्रान्त अर्जुन ने प्रचण्ड कर्मोद्यम की प्रेरणा पायी थी वही महाशक्तिशाली मन्द्रध्वनि पुनः उच्चरित हुई है इस यंत्रयुग के प्रारम्भ में, स्वामी विवेकानन्द के 'कम्बुकण्ठ' से।

उस वज्रगंभीर कण्ठध्वनि की तीव्र अनुरणन ध्वनि निद्रित विवेक वाले प्राणियों के अणु-परमाणु में प्रविष्ट होकर एक प्रचण्ड आलोड़न की सृष्टि करती है, जड़ता में डूबी चेतना में प्राणों का स्पंदन जागृत करती है। तीव्र धिक्कारध्वनि उनकी लुप्त चेतना में कशाघात कर समुज्जीवित करती है—'जागो-जागो हे महाप्राण ! जगत् दुःख में जलकर भस्म हो रहा है, तुम्हें क्या नींद शोभती है ?" छिः ! छिः ! धिक्कारध्वनि क्या अन्तरतम के अन्तस्थल से उठ नहीं पा रही ? निद्रामग्न विवेक क्या चकित-भाव से प्रश्न नहीं करता 'मैं क्यों सो रहा हूँ ? क्या मुझे कुछ देना नहीं है, कुछ भी करना नहीं है इस जगत में ?' अंतरिक्ष के आकाश-वातास मथित कर रहे हैं—ऐ, सुनो, एक वज्रवाणी अशरीरी कण्ठ से जैसे ध्वनित हो रही है—'तुम जन्म से ही माँ के लिए बलि दो।'

निद्रित शव जगें। तुम्हारी रक्तकणिकाओं में जगे महाउल्लास, तुम्हारी शिरा-शिरा में स्पंदित हो नवजीवन का उच्छ्वास। अनुभूति के मर्मों से आघात करे महामंत्र का प्रत्येक शब्द, प्रत्येक अक्षर। महावीर्य, महाशौर्य महाहुंकार ध्वनि से विस्फारित होना चाहता है। कर्णकुहर में ध्वनित होता है तूर्यनाद—"avalanche (चट्टान-स्खलन) की भाँति जोरों का रोड़ करते हुए फट पड़ो जिससे सारी दुनिया फट जाय चड़्-चड़् कर।" प्रोज्वल अग्निशिखा के तप्त उत्ताप से अवश स्नायुओं में संचारित होने लगती है नवीन उद्दीपना। धन्य हो जाता है आग का—पारसमणि स्पर्श पाकर। अपनी क्षुद्र प्राणशिखा जल उठती है विवेकशिखा के दाहक स्पर्श से।

निद्रित भारत जागो। जागो भारत की अन्तरात्मा। तमसावृत पृथ्वी विवेकसूर्य की तेजोद्दीप्त रश्मिछटा से नया प्राण पाये। नवीन जीवन की महाउल्लास ध्वनि से मुखरित हो दिग्दिगन्त। उसकी चेतना की प्रगाढ़ अनुभूति से मन्द्रित हो वही उन्नत मस्तक गैरिक पुरुष की वज्रवाणी—उत्तिष्ठत जाग्रत। दिशा दिशा में आज उसी महाकार्य की, महावीर्य की प्रचण्ड दुन्दुभि बज उठे। तूर्यनाद हो, रण दमामा के गंभीर छन्द से, 'आलोक' और 'पुलक' से जग उठें प्राण—ग्रामों-गलियों के, नगरों, पहाड़ों-पर्वतों के। नया भारत आत्म प्रकाश करे 'किसानों की कुटियों को भेद कर' 'मोचियों मेहतरों की झोपड़ियों से,' 'मोदियों की दूकानों से' 'भड़भूजों के चूल्हों से'। उद्धत, स्पर्धित, मदमत्त पृथ्वी भृकुटि-कुटिल आँखों से

रोष-काषायित दृष्टि से इस प्राचीन शिशु का दुरन्त उच्छ्वास देखे। लेकिन नहीं; कोई और उसे रोक नहीं रख पायेगा। वह जो सुनता है नवीन मृत्यु संजीवनी महामंत्र ध्वनि। विवेकानन्द के प्रज्ञापूर्ण नेत्रों से उद्भासित हुई है भावी भारत की महाउन्नति। "सुदीर्घ रात प्रभात की तरह होने लगी है, महादुःखों का अवसान प्रतीत होने लगा है। ..... जैसे हिमालय का प्राणप्रद वायुस्पर्श मृत देह के शिथिलप्राय अस्थि-मांस में प्राण संचार कर रहा है—निद्रित शव जाग्रत हो रहा है। जो अंधा है, वही नहीं देख पा रहा है; जो विकृत मस्तिष्क है, वही नहीं समझ पा रहा है—हमारी यह मातृभूमि गंभीर निद्रा का परित्याग कर जाग्रत हो गयी है। और कोई अभी इसका गतिरोध करने में समर्थ नहीं है, यह और निद्रित नहीं होगी, कोई बाहरी शक्ति और इसका दमन नहीं कर पायेगी। कुंभकर्ण की दीर्घ निद्रा टूट चुकी है।'

हेमिलिन के जादूगर ने अपनी मोहक वंशी की सुर-माया से आकृष्ट किया था पम्पाई नगर के तरुणों को। मोहाविष्ट तरुणों का दल सम्मोहित होकर घर से बाहर निकल पड़ा था रास्ते की छाती पर। माँ के स्नेह और घर के निरापद आश्रय को तुच्छ कर एक सम्पूर्ण अज्ञात उद्देश्य के लिए बढ़ चला था तरुण वर्ग—दल का दल, हजारों हजार की संख्या में। नहीं, यह पम्पाई नगर की काल्पनिक कहानी नहीं है, इस युग की, इसी शताब्दी की ही यह एक चरम जाज्वल्यमान घटना है। उसी हेमिलेन के जादूगर ने विवेकानन्द के रूप में अपनी बज्र बाँसुरी ने उठायी सुर की झंकार। वह सुर था असीम का आह्वान, अनन्त की पुकार। उस सुर में थी अमृत-लाभ की परम आश्वासन-वाणी। अपने संकीर्ण क्षुद्र 'मैं' के खोल से 'विराट मैं' के असीमहीन विस्तार में व्याप्त होने का आह्वान था उस विवेक सुर के इन्द्रजाल में। वह पागल कर देनेवाली, मन को उच्चहित करनेवाली सुर-लहरी हिमालय के वक्ष से प्रतिध्वनित होकर आ पड़ी थी सात समुद्र के पार से, यूरोप-अमेरिका की भोगपुरी में। विवेकानन्द के निद्रा तोड़ने के गीत ने विश्व के निद्रित विवेक को किया था जाग्रत, विस्मित। एक अशरीरी वाणी, निर्वैयक्तिक सत्ता आसमुद्र हिमाचल परिभ्रमण करती है, उद्दीप्त करती है, उज्जीवित करती है—विश्व के तरुण प्राणों को, संसारके सोये जनगण को। I am a voice without form' (मैं बिना आकार की वाणी हूँ।) कहा था स्वामी विवेकानन्द ने। आक्षरिक सत्य ही उनका मन्तव्य था। उस अशरीरी वाणी को रूप की रेखा में सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता, काल के बन्धन में उसे आबद्ध नहीं किया जा सकता। युग से युगान्तर में, देश से देशान्तर में, काल से कालान्तर में उस वाणी की अनुरणन ध्वनि गूँजती है।

'वीर्यमसि वीर्यं, बलमसि बलं, ओजोऽसि ओजः सहोऽसि सहोमयिधेहि। हेओजःस्वरूप हमें ओजस्वी करो, तुम सह्यस्वरूप हो, हमें सहनशील करो।' यही हुआ आज का एवं आगामी काल का प्रार्थना मंत्र। आध्यात्मिकता के श्रेष्ठ पुरुष ने 'दीन-हीन धर्म' की वेदी के समीप अपनी बलि देने को नही कहा, उन्होंने शास्त्र कण्ठस्थ करने, गले में कंठी धारण करने, कृच्छ्र साधना के उत्कट विलास से एक काल्पनिक ईश्वर की उपासना करने को नहीं कहा। महासात्विक पुरुष साहसिकता के धर्म में आह्लादित हो कर्मक्षेत्र में कूद पड़े थे दुरन्त दानवरूपी तामसिकता को विदा करने के लिए। कपट ध्यान के अन्तराल में देश के ध्यानस्तमित नेत्रों में गंभीर आलस्य की तन्द्रा कब उतर आयी थी उसे वह स्वयं भी समझ नहीं पा रहा था। कुम्भकर्ण की उसी सुदीर्घ काल रात्रि के अवसर पर उसके वक्ष पर कूद पड़ा था क्षुधार्त रक्त लोलुप व्याघ्र शावकों का दल। सौ-सौ वर्षों की पराधीनता की कालिमा जब उसके अंगों के आभूषण-सी हो उठी थी, ठीक उसी माहेन्द्र क्षण में भारत के विवेक को कशाघात से जाग्रत करने को ही मानो विवेकानन्द का आविर्भाव हुआ था। इसीसे उनके कण्ठसे सुललित पदावली की कोमलता और सुकुमारता नहीं, वेदान्त का वज्र निर्घोष मुखरित हुआ था, उनके अंगों में विलासी के बहुमूल्य वसन नहीं, सर्व त्यागी के गैरिक वस्त्र और भस्मराग के भूषण थे।

कृष्ण की बाँसुरी सुनकर नृत्य चपल होने से अब काम नहीं चलेगा, सुनना होगा अभी ढाक, ढोल और डमरू का हुहुंकार, नटराज के नृत्यछन्द से प्राणों के प्रवाह को करना होगा गतिशील। मत्त मातंग के उन्माद के लिए, वज्रकठोर मानसिकता के लिए समस्त कोमलता और सुकुमारता को तत्काल विसर्जित कर देना होगा। नहीं तो लगता है हजारों वर्षों की घोर निद्रा टूटेगी नहीं। तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो सारी भीरुता और कापुरुषता के कठिन दुर्ग को। राधाकृष्ण की प्रेम लीला के माधुर्य रस में डूबे रहने का अभी समय नहीं है, अभी प्रयोजन है गीता के सिंहनादकारी पार्थसारथी के वीर रस के उपभोग का। महा सात्विकता के चरम लक्ष्य पर पहुँचाने के लिए, अतिक्रम करना होगा रजोगुण के अनिवार्य सुर का। राधाकृष्ण का प्रेम महासात्विक भाव है। तामसिक स्वभाव से वह महाभाव हृदयंगम नहीं हो सकेगा। इसी से अभी गीता की आवश्यकता है। कर्मोद्यम के अग्नि-उत्सव के निःश्वास से भस्मसात होगी तामसिकता की सघनता। राजसिक गुणों की अग्निशिखा में परिशुद्ध होकर परमशुद्ध सत्वगुण आत्मप्रकाश करेगा यथार्थ रूप में, प्रकृति के स्वाभाविक कारण के फलस्वरूप।

●

श्रद्धांजलि

स्वामी बुधानंद

रामकृष्ण मिशन, दिल्ली केन्द्र के अध्यक्ष श्रीमत स्वामी बुधानन्दजी महाराज ने गत ११ जून, १९८३ को कलकत्ते में अपने पंच भौतिक शरीर का परित्याग कर दिया।

स्वामी बुधानन्दजी को गत ७ जून '८३ को हृदयघात हुआ था। तत्काल उन्हें रामकृष्ण मिशन सेवा प्रतिष्ठान अस्पताल में चिकित्सार्थ ले जाया गया। सम्यक् उपचार के बावजूद हृदयगति के अवरुद्ध हो जाने से उसी अस्पताल में गत ११ जून को अपना शरीर त्यागकर वे श्रीरामकृष्ण—लोकवासी हो गये। वे ६८ वर्ष के थे।

स्वामी बुधानन्द ! एक वन्दनीय व्यक्तित्व। एक वर्चस्वी एवं विचक्षण विद्वान्। एक प्रखर वक्ता। एक प्रख्यात लेखक। एक महान् संत। अनेक ग्रन्थों की रचना की थी उन्होंने। 'मन और उसका निग्रह' उनकी बहु प्रशंसित पुस्तक है। उन्होंने कुछ वर्षों तक अमेरिका में वेदान्त के प्रचारार्थ कई प्रवचन दिये थे। रामकृष्ण मिशन की पत्रिकाओं—द वेदान्त केसरी (मद्रास) तथा प्रबुद्ध भारत (मायावती)—के वे कई वर्षों तक यशस्वी सम्पादक भी रह चुके थे। अद्वैत आश्रम, मायावती तथा मिशन के चंडीगढ़ केन्द्र के वे कुछ समय तक अध्यक्ष भी। थे रामकृष्ण मिशन के द्वितीय अधिवेशन (कन्वेंशन) १९८०, के एक सत्र की उन्होंने अध्यक्षता भी की थी। आध्यात्मिक साधकों, युवकों एवं समाज सेवियों के लिए वे एक प्रबल प्रेरणा-स्रोत थे। उनके निधन से राष्ट्र को एक अपूरणीय क्षति हुई है।

भगवान् श्रीरामकृष्ण अपनी छाया में उन्हें चिर शांति प्रदान करें। विवेक शिखा परिवार की उनको हार्दिक श्रद्धांजलि।

श्री सारदा देवी

—स्वामी वेदान्तानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना

अष्टादश अध्याय
(चरित्र)

विगत कई शताब्दियों से विज्ञान के विवेचन के फलस्वरूप मनुष्य ने संसार के सम्बन्ध में जितने प्रकार के ज्ञान प्राप्त किये हैं एवम् इस जीवन में सुख-भोग के जितने विचित्र उपायों का आविष्कार किया है उसकी सीमा नहीं है। किन्तु इतने ज्ञान-वर्द्धन के बावजूद वह स्वयं क्या वस्तु है—यह बात वह भूल गया है। रक्त-मांस से निर्मित देह ही उसकी सब कुछ है, इस शरीर के लिए हर प्रकार के भोग को एकत्र कर पाना ही जीवन की चरम सार्थकता है—यही बुद्धि लेकर वह समाज में पारस्परिक सम्बन्ध कैसा होगा इसका निर्धारण करता है। मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन और उसके साथ संसार का सम्बन्ध किस प्रकार का होना उचित है—इन सब विषयों में काफी विचार कर प्राचीन काल के ज्ञानी व्यक्तिगण समाज के कल्याण के लिए जिन सारी नीतियों का प्रचार कर गये हैं उन सब को महत्त्व देने को आजकल के मनुष्यों का एक वर्ग अब तैयार नहीं है। किन्तु वह समझता नहीं है कि केवल इस जीवन के सुख को जीवन का एकमात्र लक्ष्य बनाने से स्थायी सुख-शान्ति किसी उपाय से मिल नहीं सकेगी।

हमलोगों के देश के ऋषि-मुनियों ने अनुभव किया था कि ईश्वर ही सभी प्राणियों में मातृरूप में विराज रहे हैं। इसी से उनकी प्रार्थना :—

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

जो देवी सभी प्राणियों में माँ का रूप धारणकर उपस्थित रहती हैं उन्हीं जगत्-जननी देवी को नमस्कार करता हूँ।

नारी जातिमात्र को भारतवासी चिरकाल से माँ के रूप में देखते आये हैं। इसी आदर्श का अवलम्बन कर हमलोग ज्ञान और गुण में श्रेष्ठ हुए थे। इस भाव को भूलकर जिस समय हमने सर्वनाश के पथ पर पाँव बढ़ाये थे उसी समय श्रीरामकृष्णदेव ने आकर सभी नारियों की मातृ-ज्ञान से पूजा करना सिखाया—और इसी आदर्श मातृभाव के आदर्श रूप में सारदादेवी के जीवन का गठन किया। दीर्घकाल के लिए उन्हें रख गये इसी मातृभाव का जगत में प्रचार करने के हेतु।

जिस मातृभाव ने सारदादेवी के जीवन में विशेष रूप से प्रकाश पाया था उसका कुछ विवेचन हम कर चुके हैं। किन्तु केवल मातृभाव नहीं, नारियों के जीवन में शोभा पा सकें—ऐसे सारे सद्गुणों का ही विकास उनके जीवन में हुआ था। इन सबका विवेचन करने से लगता है कि ऐसा सुन्दर जीवन इतिहास-पुराणों में तो ढूँढ़े नहीं मिलेगा। इन्हीं सारे गुणों को लेकर वे हुई थीं इस युग की नारियों का आदर्श। उनके जीवन एवं उनके उपदेशों का विवेचन कर—तदनुरूप अपने चरित्र का गठन कर आजकल की नारियाँ स्वयं महान् होंगी एवं देश तथा समाज को उन्नत करेंगी।

वैसे तो वे थीं गाँव-घर की बहू की भाँति अत्यन्त

लज्जावती— सर्वदा घूँघट ताने रहतीं और श्रीरामकृष्ण के सभी शिष्यों से भी बात नहीं करतीं; किन्तु आवश्यकता पड़ने पर उनमें असाधारण शक्ति का प्रकाश दिखाई पड़ता। उनके जीवन में नम्रता और तेज— इन दोनों गुणों का समान रूप से विकास हुआ था। इसके दो-एक-दृष्टान्त :—

वे उन दिनों कामारपुकुर में थीं। श्रीरामकृष्ण का गृही शिष्य हरीश उन्हीं दिनों विक्षिप्त अवस्था में वहाँ जाकर उपस्थित हो गया। उसकी पत्नी ने उसे विष खिलाकर पागल कर दिया था। पागल की मर्जी को समझना कठिन है। एक दिन सारदादेवी टोले से लौटकर अपने मकान में घुस रही थीं, उसी समय हरीश उन्हें पकड़ने के लिए दौड़ा। उस समय घर में कोई और पुरुष नहीं था। वे और क्या करतीं, घर के आंगन में धान का गोला था, उसी के चारों ओर चक्कर लगाने लगीं। किंतु हरीश भी छोड़ नहीं रहा था, पीछे-पीछे दौड़ने लगा। तब उन्होंने क्या किया, यह बात उन्हीं के श्रीमुख से सुनें—'सात बार चक्कर लगाने के बाद और नहीं लगा सकी। तब अपने स्वरूप को प्रकट कर खड़ी हो गयी। फिर उसकी छाती पर घुटना टिका उसकी जीभ खींचकर इस तरह चाँटे मारने लगी कि वह हें-हें करते हुए हाँफने लगा। मेरे हाथ की उँगलियाँ लाल हो गयी थीं।" तब हरीश एकबारगी ठंढा हो गया। इसके उपरान्त उन्होंने उसे कलकत्ता भेजने की व्यवस्था की।

एक दिन वे उद्बोधन-कार्यालय की ऊपरी मंजिल में रास्ते की ओर के बरामदे में बैठकर जप कर रही थीं। प्रायः संध्या हो आयी थी। उसी समय आगे के मैदान के मजदूरों की बस्ती के एक आदमी ने अपनी पत्नी को बेदम होकर मारना शुरू कर दिया—घूँसों, थप्पड़ों से। बाद में ऐसी एक लात मारी कि वह स्त्री अपनी गोद के बच्चे सहित लुढ़क कर आँगन में गिर पड़ी। तब भी उस आदमी का क्रोध कम नहीं—उस स्त्री के ऊपर कई लातें! सारदादेवी का जप बन्द हो गया। वे क्या यह अत्याचार और सहन कर पातीं? जिनके कंठ का स्वर कभी कोई नीचे से सुन नहीं पाता था, वे ही रेलिंग पकड़ खड़ी होकर कठोर शासन के स्वर में बोलीं—"ऐ आदमी, पत्नी को एकबारगी मार फेंकोगे क्या, आह, कितना बुरा काम है!" उस आदमी ने जो क्रोध से इतना उन्मत्त हो गया था, एक बार उनकी ओर देखकर ही, माथा झुकाकर उसी क्षण पत्नी को छोड़ दिया।

और एक घटना। एक स्वदेशी आन्दोलन के सम्बन्ध में बाँकुड़ा जिला के एक गाँव की सिन्धुबालादेवी नामक दो गर्भवती युवतियों को (दोनों युवतियों का नाम सिन्धुबाला ही था) पकड़कर पुलिस पाँव पैदल ही बहुत दूर के थाने में ले जा रही थी। सारदादेवी उस समय जयरामबाटी में थीं। यह समाचार उनके कानों में पहुँचने पर उनकी अग्निमूर्त्ति देखकर सभी स्तम्भित हो गये। उन्होंने कहा, "निरपराध स्त्रियों के ऊपर इतने अत्याचार यदि कम्पनी के (अँग्रेजी सरकार के) आदेश से होता है तो वह और अधिक दिन नहीं रहेगी। ऐसा कोई बेटा क्या वहाँ था नहीं जो दो झाँपड़ देकर स्त्रियों को छुड़ाकर ले आ पाता?" बाद में दोनों स्त्रियों के छोड़ देने का समाचार पाकर काफी शान्त हो बोलीं, "यह समाचार यदि नहीं पाती तो आज सो नहीं पाती।"

क्या मनुष्य, क्या पशु-पक्षी, सभी प्राणियों के प्रति उनकी करुणा की सीमा नहीं थी। जयरामबाटी में एक दिन सुरबाला ने किसी लड़के को खाना देने के लिए आसन, पत्ता और पानी का ग्लास दिया था। लड़के के खाने पर बैठने के पहले एक बिल्ली द्वारा जल में मुँह लगा देने पर सुरबाला ने फिर जल ला दिया। फिर बिल्ली के द्वारा जल में मुँह लगा देने पर जल बदल देना पड़ा। फिर बिल्ली ने वह जल पीना शुरू कर दिया। पगली सुरबाला ने बिल्ली को खदेड़कर कहा, "कलमुँही बिल्ली, मार डालूँगी।" उस समय चैत का महीना था। सारदादेवी समीप ही थीं। बोलीं, "नही-नहीं, प्यास के समय बाधा नहीं देनी चाहिए। फिर उस जल में तो मुँह डाल ही दिया है।" पगली गरजकर बोली, 'जा-जा, बिल्ली पर और अधिक दया मत दिखा। आदमी पर दया करो न! वे गम्भीर होकर बोलीं, 'मेरी दया जिसपर नहीं है—वह अभागा है। मेरी दया किस पर नहीं है, सो

मैं नहीं जानती—समस्त प्राणियों पर है।"

सारदादेवी उन दिनों जयरामबाटी में थीं। एक दिन रात के समय कुछ भक्त आ उपस्थित हुए। उस समय खाना-पीना समाप्त कर सभी लेटे पड़े थे। जो सेवक-संन्यासी बाहर के घर में थे उन्होंने आगन्तुकों से धीमे स्वर में कहा, 'बिना कुछ बोले बिछावन बिछाकर लेट जाइए। आवाज करने से माँ की नींद टूट जायगी।" किन्तु जिन्हें सुनना था, वे जगी ही थीं। सारदादेवी ने सेवक को पुकारकर कौन आये हैं, यह जान लिया एवं भोजन की जुगाड़ करने लगीं। सेवक उनकी सहायता करने गये तथा जो ब्राह्मणी रसोइया रसोई पकाती थीं उन्हें बुलाना चाहा। किन्तु सारदा देवी उन्हें बुलाने से मना करती हुई बोलीं, "नहीं। गरीब औरत दिन भर खट-खुटकर घर जाकर सोयी पड़ी है, अभी उसे बुलाकर कष्ट मत दो। कितने रुपये ही महीने में देते हो कि उसे इस रात में फिर खटाओगे ? मैं स्वयं रसोई करूँगी, कोई कष्ट नहीं होगा।" सबके प्रति उनकी इसी प्रकार की सहानुभूति थी।

अपने जीवन-काल में रामकृष्ण मिशन के जो सब सेवाश्रम स्थापित हुए थे उन सबके कार्यों में वे विशेष उत्साह दिखातीं। कहीं बाढ़, दुर्भिक्ष, महामारी आदि दैवी विपदा के उपस्थित हो जाने पर उसके निवारण के लिए वे विशेष उत्साह प्रदान करतीं। दामोदर नदी की एक बाढ़ का वर्णन सुनकर उन्होंने किसी भक्त को अत्यन्त करुण स्वर में कहा, "बच्चा, संसार का कल्याण करो।" एक बार घाटाल में बाढ़पीड़ितों की सेवा का कार्य समाप्त कर एक साधु उनके निकट उपस्थित हुआ, वे बोलीं, "तुमसे ठाकुर (श्रीरामकृष्ण) अनेक कार्य करा लेंगे। अभी तो इस घाटाल गाँव में तुम आये थे, कितने लोगों की मदद की, कितने लोगों का उपकार हुआ !"

बात की बात में वे एक दिन बोलीं, "जिसकी देह में दया नहीं, वह क्या मनुष्य है ? वह तो पशु है। कभी-कभी मैं दया से आत्मविस्मृत हो जाती हूँ।" लोगों को देने के प्रसंग में एक व्यक्ति से उन्होंने कहा था, 'मेरा बालक का स्वभाव है। मुझे क्या इतना आगे-पीछे का हिसाब है ! जो चाहा, दे दिया।"

उनके समय में ग्रामीण-समाज में बड़ा कठोर शासन था। जाति-भेद के अनुसार आचार-व्यवहार के नियमों को नहीं मानने पर सामाजिक दण्ड पाना होता। किन्तु हृदय के अबाध प्रेम के कारण वे सामाजिक बंधनों के अनुशासन में रह नहीं पाती थीं। जयरामबाटी में एक दिन रात में किसी भक्त से उन्होंने कहा,—"भक्त की फिर जात क्या ? सब बच्चे एक-से हैं। मेरी इच्छा होती है कि सबको एक पात्र में बैठाकर खिलाऊँ। इस अभागे देश में जात की श्रेष्ठता है। जो हो, लाई में तो दोष नहीं है।" दूसरे दिन सवेरे एक प्रशस्त थाल में पर्याप्त लाई और जलेबी साजकर सबको एक साथ खाने कहा। जगद्धात्री की पूजा के उपलक्ष्य में उस समय उनके घर पर अनेक भक्तों का समागम हुआ था।

उनकी प्रीति और सम्वेदना केवल भक्तों और शिष्यों में आबद्ध नहीं थीं—ऊँच, नीच, जाति और वर्ण का विचार किये बिना वे सभी मनुष्यों को समान दृष्टि से देखती थीं। दो-एक घटनाओं का विवेचन करने से ज्ञात होगा कि उनका हृदय कितना उदार था। उनकी भतीजी नलिनी के विषय में बात उठने पर एक दिन उन्होंने कहा था, "उसकी बात क्या कहूँ माँ ! जयरामबाटी में कुछ डोम बीड़ा बनाकर घर में देने आया था। मैंने कहा, यहाँ रखो। वे उसे कितनी सावधानी से रख गये ! वह बोली, 'यह छुआ गया, सबको फेंक दो।' यह कहकर उन सबको दुर्वचन कहने लगी, 'तुम डोम होकर किस साहस से इस तरह बीड़ा रख रहे हो ?' वे तो डर से मरने लगे। मैंने तब कहा, 'तुमलोगों को कुछ नहीं होगा, कोई भय नहीं। फिर उनलोगों को लाई खाने को दी।"

एक दिन अमजद नामक एक मुसलमान को उन्होंने खाने कहा था। उनकी वही भतीजी उसका खाना पड़ोस रही थी। नलिनी बहुत नेम-निष्ठा वाली थी। वह दूर से ही खड़ी होकर उसके पत्ते पर भात-सब्जी गिरा दे रही थी। वे पड़ोसने का ढंग देखकर बोलीं, "इस तरह देने से आदमी प्रसन्न होकर खा पायगा क्या ? तुम्हें और पड़ोसना नहीं है, मैं देती हूँ।" यह कहकर उस आदमी को परितोषपूर्वक खिलाया तथा उसके उठ जाने पर स्वयं

जल गिराकर जूठी जगह को साफ कर दिया। यह देख नलिनी ने चौंककर कहा, "ऐ पीसी, यह क्या किया, तुम्हारी जात गयी।" वे कह उठीं, "चुप रह, शरत् जिस प्रकार मेरा बच्चा है, अमजद भी उसी प्रकार मेरा बच्चा है।"

शरत् (स्वामी सारदानन्द) थे रामकृष्ण मिशन के कार्यकारी सचिव एवम् उनके प्रधान सेवक—और अमजद था जेल काटा हुआ डकैत। कितना बड़ा मन होने पर तब ऐसे दो व्यक्तियों को समान दृष्टि से देखा जाता है—दो व्यक्तियों को अपनी सन्तान की तरह प्यार किया जाता है।

जयरामबाटी में एक संथाली बूढ़ी सिर पर एक गट्ठर सामान लेकर उनको पहुँचाने गयी थी। गट्ठर उतारकर उस बूढ़ी ने उनको प्रणाम किया। उन्होंने जिज्ञासा की, "साँथाल-बहु, बहुत दिनों से तुम आयी क्यों नहीं?" बूढ़ी ने करुण स्वर से उत्तर दिया, "अरी मैया, आजकल बहुत कष्टों में पड़ गयी हूँ। पेट की ज्वाला से अनेक जगहों में घूमना पड़ता है। इसी से यहाँ गट्ठर लेकर आने की आवश्यकता होने पर बाबूगण हमेशा मुझे देख नहीं पाते हैं। कुछ दिन हुए मेरा कमाऊ जवान लड़का मर गया।" बूढ़ी की बात सुनकर उन्होंने कहा, 'ऐसा हो गया संथाल-बहू।' बोलते-बोलते उनकी आँखें भींग गयीं--और बूढ़ी उनकी सहानुभूति पाकर फुक्का फाड़कर रो उठी। उन्होंने भी उसके समीप बैठकर रोना शुरू किया। कुछ देर बाद रुदन का वेग समाप्त होने पर उन्होंने नारियल का तेल लाकर बूढ़ी के माथे पर डाल दिया। तेल के बाद उसके आँचल में लाई और गुड़ रख कर बिदा देने के समय उन्होंने छलछलायी आँखों से कहा, "फिर आना, संथाल-बहू।"

संसार के जिस व्यक्ति को, जिस प्राणी को, जिस वस्तु को जितना सम्मान देने, आदर करने की आवश्यकता होती, उतना वे स्वयं करतीं और दूसरे को करने कहतीं। उनके जीवन में बराबर इसके प्रमाण मिलते हैं। कविराज श्यामादास वाचस्पति महाशय एक दिन उन्हें देखने आये थे। उन्होंने कविराज महाशय को प्रणाम करने का आदेश राधू को दिया। बाद में एक महिला ने जिज्ञासा की, 'ब्राह्मण की लड़की को वैद्य को प्रणाम करने को क्यों कहा?' उन्होंने उत्तर दिया, 'तो करेगी नहीं? कितने बड़े विज्ञ हैं वे! वे ब्राह्मणतुल्य हैं। उनको प्रणाम नहीं करेगी तो किसको करेगी?"

किसी को एक बिल्ली के शरीर या सिर पर पाँव रखकर दुलार करते देखकर उन्होंने कहा, 'ओ माँ, वह क्या कर रही हो? सिर गुरु का स्थान है, सिर पर क्या पाँव रखना चाहिए? प्रणाम करो।"

कलकत्ता के निवास-भवन में एक दिन दोपहर को जब सब विश्राम कर रहे थे, उसी समय एक भिखारी भिक्षा माँगने आया। मकान के नीचे के तल्ले में जो लोग थे, उन्होंने भिखारी से कहा, 'जा-जा, असमय में अभी तंग मत कर।' ऊपर से यह बात सुनकर उन्होंने कहा, 'देखते हो, भिखारी को डाँट दिया। यह जो अपना काम छोड़ थोड़ा उठकर भीख देनी होगी, इतना भी नहीं हुआ, आलस्य हो गया। भिखारी को एक मुट्ठी भीख नहीं दे पाया। जिसका जो प्राप्य है उससे उसे वंचित करना क्या उचित है? यह जो तरकारी का छिलका है, वह भी गाय का प्राप्य है। उसे भी गाय के मुँह के सामने रखना होगा।'

साधुओं ने एक दिन फल की एक टोकड़ी को रास्ते पर फेंक देने को कहा। उन्होंने सुनकर कहा, "देखते हो, इतनी सुन्दर टोकड़ी को उनलोगों ने फेंक देने को कहा। उन लोगों का क्या है? साधु हैं, उनलोगों को क्या माया है? हमलोग किन्तु सामान्य वस्तु को भी बर्बाद करना सह नहीं पातीं। उसके रहने से तरकारी के छिलके भी उसमें रखे जाते।" यह कहकर टोकड़ी मँगवा तथा उसे धोकर रख दिया।

किसी एक व्यक्ति ने आँगन बुहारने के बाद झाड़ू को एक ओर फेंक कर रख दिया। उन्होंने यह देखकर कहा; "यह क्या, काम हो जाने पर उसे इस प्रकार अश्रद्धा से फेंक दिया? फेंक देने में जितना समय लगेगा उतना ही समय आहिस्तापूर्वक धीरे से रखने में भी लगेगा। छोटी चीज होने से क्या उसे तुच्छ समझते हो? जिसको

रखो, वही रखता है। फिर तो उसकी आवश्यकता भी होगी! इसके अतिरिक्त इस परिवार का वह भी तो एक अंग है! इस दृष्टि से विचार करो तो उसका भी एक सम्मान है। जिसको जितना सम्मान प्राप्य है उसे उतना देना होगा। झाड़ू को भी सम्मानित कर रखना होगा। साधारण कार्य भी श्रद्धा के साथ करना होगा।"

देश विदेश के कितने ही धनी-गुणी व्यक्ति उनको भगवती देवी समझकर उनकी भक्ति करते हैं, किन्तु इससे उनके मन में थोड़ा भी विकार नहीं दिखाई पड़ता था। उनके स्वभाव में लेशमात्र भी अहंकार नहीं था। इतने सम्मान को पच लेना क्या साधारण बात है? रुपये-पैसों की स्वामिनी होने की इच्छा रखने पर वे काफी अधिक ऐश्वर्यों का संग्रह कर सकती थीं, किन्तु उस ओर उनका रंच मात्र भी ध्यान नहीं था। जैसे श्रीरामकृष्ण, वैसी उनकी सहधर्मिणी। इस युग के भोगी-लोभी मनुष्यों को वे सत्य का पथ दिखाने और शान्ति-लाभ का उपाय बताने आयी थीं। उन दोनों के आचरण देखकर दूसरे लोग सीख ग्रहण करेंगे।

दो बोध कथाएँ

अब को शोक:

एक चक्रवर्ती सम्राट का इकलौता पुत्र लम्बी बीमारी के कारण सूख कर काँटा हो गया था। अनेक प्रख्यात चिकित्सकों के प्रयास के बावजूद उसकी पीड़ा कम नहीं होती थी। वह न जीता था, न मरता था, न बोल पाता था, न उठ-बैठ पाता था। भयंकर कष्ट में पड़े पुत्र को देख कर सम्राट की आत्मा रो पड़ती थी। पिछले आठ दिनों से लगातार पुत्र के पायताने बैठा रहा था सम्राट··· ·· खाने-पीने की सुध भूले, सम्पूर्ण पृथ्वी से उदासीन—— अब क्या किया जाये—सोचते-सोचते एक दिन सुबह चार बजे रुग्ण पुत्र के पायताने बैठे-बैठे ही राजा को एक झपकी आ गयी। वह स्वप्न देखने लगा——

स्वप्न देख रहा है सम्राट——उसके बारह पुत्र हैं सब की काया स्वर्ण-सी, सब योग्य एवं आज्ञाकारी। अनेक पद्मिनी पत्नियों से सुवासित रनिवास, पुत्र-बधुओं एवं पौत्र-पौत्रियों से प्रफुल्ल परिवार, ऋतुओं के अनुकूल महल, दिगंत-व्यापी साम्राज्य एवं सैकड़ों नरेश पाद-चुम्बन को तैयार—वर्षों से उसकी जिन्दगी अमरावती के अधिपति की तरह कट रही है। सम्राट प्रसन्नता में झूम रहा है, पैर थिरक रहे हैं——।

तभी पत्नी के हृदय-विदारक चीत्कार से उसकी नींद खुल गयी। सामने का पुत्र—साम्राज्य का उत्तराधिकारी एवं कुल-दीपक—हिचकी लेकर मर चुका था। क्षणभर को सम्राट भी चौंक पड़ा, पुनः स्थिर एवं प्रशांत बैठा रहा। उपस्थित जन-समूह के करुण-क्रन्दन से राजमहल सिसक पड़ा था। सम्राट मगर निर्विकार-निश्चल बैठा रहा—मानो कहीं कुछ हुआ ही नहीं।

रोते-रोते बार-बार बेहोश हो जाने वाली रानी ने सम्राट को इस तरह देखा तो वह डर गयी। पूछा उसने —यह आपको हो क्या गया है? आँखों का तारा जा चुका, सारी दुनिया उजड़ गयी और आप की आँखों से एक बूँद आँसू तक नहीं गिर रहा।

सम्राट ने कहा—बात कुछ खास नहीं। मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। हाँ, थोड़ी-सी मुश्किल में पड़ गया हूँ।

कुछ क्षण पूर्व ही मैं बारह पुत्रों, अनेक पौत्र-पौत्रियों-पुत्र-बधुओं का स्वामी था। सारा भू-मण्डल मेरे पैरों पर लोटकर गर्व महसूस करता था। दिग्दिगंत व्यापी मेरा वह यश एवं वैभव क्षण भर में समाप्त हो गया। उस समय इस मृत पुत्र का, तुम्हारा, तुम्हारे वैभव का—कहीं कुछ पता नहीं था। अब तू है, तेरा महल है, सबकुछ है—वह सब लुट गया। तुम्हीं कहो— मैं किसके लिये शोक करूँ—बारह पुत्रों के लिए या एक पुत्र के लिये ? मुझे तो लगता है, जैसे वह सब स्वप्न था, यह भी स्वप्न था। जैसे वह सब गया, यह भी गया। अत्र को शोकः ? अतः यहाँ शोक करने की क्या बात है !

—प्रस्तुति : सुरेश कुमार प्रशांत

रसलोभी हिरण

बहुत पुरानी बात है। वाराणसी में राजा ब्रह्मदत्त राज्य करते थे। राजा का एक बहुत बड़ा उद्यान था। उस उद्यान की शोभा की चर्चा चारो ओर थी।

उसमें फूलों के अलावा हरी-हरी घास भी थी। कोमल-रसभरी घास को देखते हीं जानवरों के मुँह में पानी आ जाता था। उद्यान की चहारदीवारी बहुत ऊँची थी, लेकिन वह एक जगह से टूटी हुई थी। वहीं से एक हिरण आकर प्रतिदिन उस उद्यान की घास चरता था और जैसे ही माली आता कि हिरण भाग जाता।

एक दिन राजा ने माली से पूछा : 'उद्यान का क्या हाल है ? फूल-पत्ते कैसे हैं ? मौसम के सभी फूल तो उगे हैं ?'

माली ने कहा : 'सब ठीक है महाराज। आपकी कृपा से हम लोग भी ठीक ही हैं। परन्तु एक विचित्र बात है, महाराज !'

'क्या ?'

'महाराज, एक हिरण रोज आता है और घास चरकर भाग जाता है।' वह बहुत सुन्दर है, उसे देखकर मन प्रसन्न हो जाता है।

राजा ने कहा : 'उसे पकड़कर मेरे पास हाजिर करो'

अगर मुझे थोड़ा शहद मिल जाए तो मैं उसे पकड़ लूँगा, महाराज।

राजा ने माली को शहद दे दिया। माली ने शहद को घास पर छिड़क दिया। अब हिरन उस उद्यान में देर तक रहता था और शहद लगी घास चरता था।

हिरन पहले माली को देखते ही भाग जाता था लेकिन धीरे-धीरे वह उसके हाथ की घास भी खाने लगा। यह देखकर माली बहुत प्रसन्न हुआ। अब माली ने हिरन को पकड़ने के लिए एक और उपाय का सहारा लिया। माली ने राजभवन तक चटाइयाँ बिछवाईं। उन चटाइयों पर उसने कहीं-कहीं शहद मिली हुई घास डाल दी। इसके बाद वह हाथ के कुछ पत्तों में शहद लगा-लगा कर हिरन को खिलाते-खिलाते राजभवन की ओर बढ़ने लगा। शहद के रस के लोभ में वह हिरन राजमहल के फाटक के अन्दर चला गया। फाटक के अन्दर जाते ही फाटक बंद कर दिया गया। अब हिरन को अपनी गलती मालूम हुई। वह भय से काँपने लगा। राजा ने उसे देखकर सोचा कि यह अपनी जीभ के फेरे में पड़कर हीं इस कैद में आया है। उसने उस रसलोभी हिरन को चिड़ियाखाने में डलवा दिया।

रस के लोभ से बढ़कर कोई लोभ नहीं है। इसलिए रस के लोभ से बचना चाहिए। जीभ मनुष्य को कहीं से कहीं ले जा सकती है। अतः जिसने जीभ को वश में कर लिया है, उसने भारी विजय प्राप्त कर ली है।

—प्रस्तुति : मनीष मोहन
छपरा, (सारण)

सूफी सूक्तियाँ और कथिकाएँ

संकलन

—देव आनन्द मधुकर

परमात्मा के बचन हैं : जब मैं अपने दास से प्रेम करता हूँ तब प्रभु होने के नाते मैं उसका कान हो जाता हूँ और मेरे ही द्वारा वह श्रवण करता है; मैं उसकी आँख हो जाता हूँ, मेरे ही द्वारा वह दर्शन करता है; मैं उसकी रसना हो जाता हूँ, वह मेरे ही द्वारा वाणी उच्चरित करता है; मैं उसका हाथ हो जाता हूँ और वह मेरे ही द्वारा ग्रहण करता है। —जून नून

ईश्वरपरायण साधुओं के प्रति प्रीतिस्थापन करना और ईश्वर के प्रति प्रीतिस्थापन करना दोनों समान हैं।

जून नून—

साँप जिस प्रकार केंचुल छोड़ता है उसी प्रकार से मैंने अपना अहं छोड़कर अपनी ओर देखा और पाया कि मैं और वह एक ही हैं। —बायजीद

बायजीद ने बहुत दिनों तक सूफी साधक सादिक के साथ रहकर साधना की थी। एक दिन सादिक ने बायजीद से आले पर से कोई किताब उठा लाने के लिए कहा। "कौन-सा आला ?" बायजिद ने जिज्ञासा की। सादिक ने हैरत से कहा, "इतने समय से तुम मेरे साथ रहते रहे हो फिर भी तुम्हें पता नहीं कि किताबों बाला आला कहाँ है ?" "प्रभो" बायजिद ने नम्रता से उत्तर दिया, "उससे हमें क्या मतलब कि आपके सामने मैं मस्तक ऊँचा करूँ। मैं यहाँ कुछ देखते हुए घूमने के लिए तो आया नहीं।"

उसी समय सादिक बायजिद को वहाँ से बिस्ताम भेज दिया क्योंकि उन्होंने स्वीकार किया कि बायजिद की साधना पूरी हो चुकी थी।

मनुष्य के लिए इससे बढ़कर और कुछ नहीं है कि उसके पास कुछ नहीं है न संन्यास, न धर्म, न कर्म। जब वह सब कुछ के बिना रहता है तब ही वह सब कुछ के साथ है। — बायजीद

मैंने देखा कि प्रेमी-प्रेमिका और प्रेम एक ही हैं क्योंकि एकत्व की दुनिया में सभी एक हो सकते हैं।

—बायजीद

सूफी सादक अबू सुलेमान के धैर्य और कष्ट सहने की शक्ति प्रसिद्ध है। एक जाड़े की रात जब सुलेमान मस्जिद में प्रार्थना कर रहे थे ठन्ढ से बचने के लिए तब एक हाथ उन्होंने कपड़े में छिपा लिया था। उस रात स्वप्न में मानों आपसे किसी ने कहा, "अबू सुलेमान, तुम्हारा जो हाथ बाहर था उसे जो कुछ भी देना था दे दिया और दूसरा हाथ भी यदि बाहर करते तो उसका प्राप्य भी दे दिया जाता।" तब से अबू सुलेमान ने प्रार्थना की कि जाड़ा हो या गर्मी, दोनों हाथ बाहर किये बिना प्रार्थना नहीं करूँगा।

× × ×

नवीं सदी के मशहूर सूफी सन्त मंसूर को अनलहक (मैं ही वह हूँ) कहने के लिए सूली पर चढ़ा दिया गया। कहते हैं मृत्यु दण्ड के पूर्व उसे सैकड़ों कोड़े लगाये गये और कोड़े के प्रत्येक प्रहार पर वह चीत्कार कर कह उठता, "अनलहक। हुसेन डरना मत।" सूली पर चढ़ाये जाने के समय उसे देखने के लिए लाखों लोगों की भीड़ जमा थी, कई लोगों ने उस पर पत्थर भी बरसाये पर वह चुप मुस्कुराता रहा। उसके हाथ वेध दिये गये तो उसने रक्त अपनी बाहों म लगाकर कहा, "यह प्रेम का वजू है। रक्त छोड़कर विशुद्ध वजू नहीं होता।" फिर उसकी आँखें निकाल ली गईं और उसकी जीभ काटने की तैयारी होने लगी। तब उसने ऊपर की ओर मुँह कर कहा, 'हे परमात्मा इन्होंने मुझे इतनी यन्त्रणा दी है लेकिन इनलोगों को वंचित न करना, उस सम्पदा से इन्हें निराश न करना। मेरे हाथ पाँव इन्होंने काटे हैं जरूर पर तुम्हारे रास्ते में ही। सूली पर मेरा सिर भी काट डालेंगे अवश्य पर तुम्हारे दर्शन की अवस्था में हीं।"

× × ×

संसार में इंद्रियों को शृंखला में बाँध रखना जितना आवश्यक है उतना किसी पशु को भी बन्धन में रखना आवश्यक नहीं है। —हसन अल बसरी

अनासक्ति का एक क्षण भी सहस्त्रों वर्षों की नमाज और रोजा से बेहतर है।

× × ×

अपने हृदय को परमात्मा के स्मरण और चिन्तन द्वारा धो डालो क्योंकि उसमें जल्दी मैल लग जाता है। अपनी अन्तरात्मा पर अंकुश रखो क्योंकि उसमें तीव्र इच्छाएँ उठती हैं और अगर तुमने उनपर अंकुश नहीं रखा तो वे तुम्हें पतन की ओर खींच ले जायेंगी।

× × ×

मनुष्य की अपेक्षा बकरी अच्छी है जो चरवाहे की आवाज सुन चरना छोड़कर उसकी ओर दौड़ आती है लेकिन मनुष्य ईश्वर का आह्वान सुनकर उनकी ओर नहीं जाता और अपने भोगसुख से विरत नहीं होता।

—हसन अल बसरी

आठवीं सदी के प्रसिद्ध साधक इब्राहिम बिन अधम सूफी होने के पूर्व बल्ख के बादशाह थे। कहते हैं एक समय आधी रात को जब वे राजमहल में सोये थे, ऊपर छत पर कोई आवाज हुई। 'कौन है ?" इब्राहिम ने पूछा। "कोई दुश्मन नहीं है। मेरा ऊँट भूल गया है उसे ही खोज रहा हूँ।" उत्तर मिला।

इब्राहिम ने कहा कि अट्टालिका की छत पर ऊँट खोजने की बात तो बड़ी विचित्र है। इसपर जवाब मिला, "तुम स्वर्ण सिंहासन पर बैठकर मूल्यवान वस्त्र धारण कर ईश्वर का अन्वेषण कर रहे हो यह तो अट्टालिका की छत पर ऊँट खोजने से भी अधिक आश्चर्यजनक है।"

× × ×

सूफी साधिकाओं में राबिया अल अदाबिया अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। एकबार वे एक हाथ में मशाल और दूसरे में पानी भरी बाल्टी लेकर तेजी से चली जा रही थीं। साधकों के पूछने पर उन्होंने बताया, 'मशाल से मैं स्वर्ग को भस्म कर देना चाहती हूँ और पानी से नरकाग्नि को बुझाना चाहती हूँ। परमात्मा और उसके चाहनेवालों के दरम्यान कोई अड़चन तब नहीं रह जायेगी। राबिया की प्रार्थना थी, "प्रभु, इस संसार में मेरे लिए जो कुछ भी तुमने निर्दिष्ट कर रखा है उसे अपने शत्रुओं को देना और परलोक का जो कुछ है उसे अपने उपासकों को देना। मेरे लिए तो तुम ही यथेष्ठ हो, मैं और कुछ नहीं चाहती।" राबिया की एक और प्रार्थना थी, "ऐ खुदा, अगर मैं नरक यातना के भय से तुम्हारी उपासना करूँ तो मुझे नरकाग्नि में ही जलाते रहना और अगर स्वर्ग जाने की अभिलाषा से उपासना करूँ तो उससे मुझे वंचित कर देना। पर अगर तुम्हें पाने के लिए ही मेरी अराधना हो तो अपने अनन्त सौन्दर्य के दर्शन से मुझे वंचित न करना।"

राबिया कुमारी ही रही आजीवन। एक बार हसन ने उनसे विवाह के सम्बन्ध में उनका विचार जानना चाहा। राबिया ने कहा "शरीर सम्बन्धी विवाह ? मेरा शरीर ही कहाँ है ? शरीर तो मैंने ईश्वर को उत्सर्ग कर दिया, वह उन्हीं की आज्ञा के अधीन है और उन्हीं के कार्य में लगा हुआ है।

एक अन्य समय राबिया की एक परिचारिका ने बसन्त ऋतु में एक सुन्दर प्रातःकाल के प्राकृतिक सौन्दर्य को लक्ष्य कर उससे कहा. "बाहर आकर जरा परमात्मा की सुन्दर सृष्टि को तो देखो।" राबिया अपनी तंग कोठरी में उपासना में लगी हुई थी। उसने कहा, "तुम्हीं भीतर आकर उन वस्तुओं को बनानेवाले को देखो।"

राबिया से एकबार पूछा गया कि क्या वह परमात्मा से प्रेम करती है ? उसने स्वीकार किया कि उसे परमात्मा से अनन्य प्रेम है। पर जब उससे पूछा गया कि तब तुम शैतान से अवश्य घृणा करती होगी। राबिया ने उत्तर दिया कि परमात्मा के लिए प्रेम ने उसके दिल में शैतान से घृणा करने के लिए स्थान ही नहीं छोड़ा है। फिर राबिया ने बताया कि एक बार सपने में पैगम्बर हजरत मुहम्मद को उसने देखा। पैगम्बर ने पूछा, "राबिया क्या तू मुझसे प्रेम करती है ?" राबिया ने उत्तर दिया, "हे अल्लाह के रसूल, कौन ऐसा है जो तुमसे प्रेम नहीं करता ? लेकिन परमात्मा के प्रेम ने इस प्रकार से मेरे ऊपर अधिकार जमा लिया है कि उसके सिवाय और

किसी से प्रेम या घृणा करने का स्थान मेरे हृदय में रह ही नहीं गया है।"

× × ×

मैं वही हूँ जिसे मैं प्यार करता हूँ और जिसे मैं प्यार करता हूँ वह मैं ही हूँ। एक ही शरीर में वास करने-वाले हम दो प्राण हैं। अगर तुम मुझे देखते हो, तो तुम उसे देखते हो और अगर तुम उसे देखते हो तो तुम हम दोनों को देख रहे हो। —जामी

× × ×

मैं समझता था कि मैं परमात्मा से प्रेम करता हूँ लेकिन गौर करने पर मैंने देखा कि मेरे प्रेम करने के पहले से ही वह मुझसे प्रेम करता है। --बायजिद-बिस्तामी

× × ×

सूर्य के नीचे जितनी मस्जिदें हैं जबतक वे ढह नहीं जातीं तबतक हमारा धार्मिक अनुष्ठान पूरा नहीं हो सकता और जबतक ईमान और कुफ्र एक नहीं समझे जाते तबतक कहीं भी सच्चा मुसलमान नहीं दीख सकता।"

—सईद इब्न अबी अलखैर

× × ×

"प्रेम प्रज्जवलित अग्नि के समान है जो परम प्रियतम की इच्छा के सिवा हृदय की समस्त वस्तुओं को जलाकर खाक कर डालता है"

"पश्चाताप करनेवालों, ईमान लानेवालों तथा पुण्य कर्म करनेवालों के बुरे कर्मों को भी परमात्मा अच्छे में बदल देगा चूंकि परमात्मा दयालु हैं। जो परमात्मा की ओर उन्मुख होगा और शुभ कर्मों में रत रहेगा उसे परमात्मा शुद्ध और निर्मल कर देगा।"

—कुरान शरीफ २५ : ७०, ७१

× × ×

एक तुरत कटे हुए वृक्ष को देखकर एक सूफी ने कहा : इस ताजा हरे पत्तों वाली डाल को देखो। इसे मालूम नहीं कि वृक्ष काटा जा चुका है इसलिए यह डाल अब भी हरियाली में प्रसन्न है। समय आने पर ही इसे अपनी नियति का ज्ञान होगा। तबतक इस डाल से बहस करनी बेकार है। यही अज्ञान मनुष्य की भी नियति है।

* धर्म का रहस्य सिद्धांतों में नही, प्रत्युत आचरण में है।
* स्वरूपतः मनुष्य दिव्य है; इसका विकास साधन प्रत्येक का कर्त्तव्य है।
* यदि तुम ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हो तो मानव की सेवा करो।
* समस्त शिक्षण और प्रशिक्षण का अभिप्राय मानव का निर्माण करना है।
* महान् कार्य महान् त्याग से ही सिद्ध हो सकता है।

—स्वामी विवेकानन्द

रामकृष्ण–विवेकानंद युवा सम्मेलन, जयपुर

(२७, २८, २९ सितम्बर, १९८३)

देश की वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह अति आवश्यक प्रतीत होता है कि यहाँ की जनता को, विशेष कर अपने युवा वर्ग को, श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द का ओजस्वी तथा प्रेरणादायक संदेश पुनः सुनाया जाये।

इस समय हम एक नवीन संकट में घिरे हुए हैं और हमारा देश नाना प्रकार की अपूर्व विषमताओं का सामना कर रहा है। हमारे में एक दूसरी प्रकार की दासता प्रवेश कर चुकी है और हम अपने सब श्रेष्ठ आदर्शों को भुला कर अपने सर्वोन्नत करने वाले आध्यात्मिक जीवन के महत्वपूर्ण सम्बल को खोते जा रहे हैं। हमारी युवा पीढ़ी भी, जिस पर कि देश का भविष्य निर्भर करता है, इस दूषित वातावरण से प्रभावित हुए बिना न रह सकी है।

इन सब परिस्थितियों को दृष्टिगोचर रखते हुए रामकृष्ण मठ और मिशन के अध्यक्ष, श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज के आदेशानुसार सब मिशन के प्रमुख केन्द्रों में युवा सम्मेलनों का आयोजन किया जा रहा है। रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द स्मृति मंदिर, खेतड़ी भी ता० २७, २८, २९ सितम्बर, १९८३ को एक ऐसा तीन-दिवसीय युवा सम्मेलन राजस्थान की राजधानी जयपुर में बुला रहा है और इसमें मिशन के जाने-माने संन्यासी, जैसे कि स्वामी हिरण्मयानन्दजी, स्वामी रंगनाथानन्दजी, स्वामी आत्मानन्दजी, स्वामी स्मरणानन्दजी, इत्यादि, हमारा सही मार्ग प्रशस्त करेंगे तथा अपनी अमृत वाणी द्वारा हमको कृतार्थ करेंगे।

कार्यक्रम

मंगलवार, २७ सितम्बर, १९८३

प्रथम सत्र (प्रातः ८.३० से १०.३० बजे) : उद्घाटन समारोह।

प्रवचनकर्त्ता : स्वामी हिरण्मयानन्दजी महाराज, अध्यक्ष, रामकृष्ण मिशन, बम्बई तथा स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज, अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ, हैदराबाद।

द्वितीय सत्र (प्रातः ११ से १ बजे) : "रामकृष्ण मिशन की सेवायें तथा रामकृष्ण भावधारा का समाज में प्रचार एवं प्रसार" पर गोष्ठी।

वक्तागण : स्वामी रंगनाथानन्दजी, स्वामी आत्मानन्दजी, स्वामी स्मरणानन्दजी तथा अन्य विशिष्ट संन्यासीगण।

बुधवार, २८ सितम्बर, १९८३

प्रथम सत्र (प्रातः ८.३० से १०.३० बजे) : "व्यावहारिक वेदान्त" पर वार्ता।

वक्ता : स्वामी स्मरणानन्दजी, सचिव, सारदा पीठ, बेलूड़ मठ।

द्वितीय सत्र (प्रातः ११ से १ बजे) : युवा प्रतिनिधियों द्वारा श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द तथा श्री माँ सारदा देवी के जीवन और उपदेश से सम्बन्धित किसी भी विषय पर भाषण। प्रतिनिधि युवा वर्ग की समस्याओं तथा इस संदर्भ में उनके निराकरण पर भी बोल सकते हैं। उनके भाषणों में उठाये गये प्रश्नों पर उपस्थित संन्यासीगण प्रकाश डालेंगे।

बृहस्पतिवार, २९ सितम्बर, १९८३

प्रथम सत्र (प्रातः ८.३० से १०.३० बजे) : प्रश्नोत्तर सत्र।

प्रश्नकर्त्ता : युवा प्रतिनिधि; उत्तर देनेवाले सभापति संन्यासी।

द्वितीय और अंतिम सत्र (प्रातः ११ से १ बजे) : स्वामी आत्मानन्दजी, अध्यक्ष, रामकृष्ण मिशन, रायपुर द्वारा समापन प्रवचन तथा युवा प्रतिनिधियों द्वारा सम्मेलन की उपयुक्तता पर अपने विचारों की अभिव्यक्ति और भविष्य के लिये सुझाव।

सम्मेलन के तीनों दिन सायंकाल में एक आमसभा होगी जिसमें स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज महाराज विवेकचूड़ामणि' पर रोजाना एक प्रवचन देंगे।

डॉ० ओंकार सक्सेना
संयोजक सचिव, युवा सम्मेलन,
५ एस.एम.एस. बंगला, जयपुर-३०२००४

स्वामी पूज्यानन्द
(सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द स्मृति मंदिर, खेतड़ी)
अध्यक्ष

पवित्र होना और दूसरों का हित करना—सभी उपासनाओं का यही सार है। जो दरिद्रों में, दुर्बलों में और रोगियों में शिव को देखता है, वही शिव की सच्ची पूजा करता है, और यदि वह केवल प्रतिमा में शिव को देखता है, तब उसकी पूजा मात्र प्रारंभिक है।

— स्वामी विवेकानन्द

मंगल कामनाओं के साथ

मंगला मेटल्स

मेटल कन्टेनर के निर्माता

एवम् जेनरल आर्डर सप्लायर्स

ए २, पत्रकार नगर,
कंकड़बाग कॉलोनी,
पटना—२०

This is the gist of all worship—to be pure and to do good to others. He who sees Siva in the poor, in the weak, and in the diseased, really worships Siva; and if he sees Siva only in the image, his worship is but preliminary.

SWAMI VIVEKANAND

WITH BEST COMPLIMENTS FROM :

MANGALA METALS

(Manufacturer of Metal Container and General Order Suppliers)

A 2, Patrakar Nagar,
Kankarbagh Colony,
PATNA—20